क्रांतिकारी आंदोलन का सैद्धांतिक विकास

शिव वर्मा

क्रांतिकारी आंदोलन का सैद्धांतिक विकास

शिव वर्मा

मुक्तिबोध प्रकाशन

क्रांतिकारी आंदोलन का सैद्धांतिक विकास

मुक्तिबोध प्रकाशन
एलआईजी-570, नजदीक अय्यपा मंदिर, फ़ेस 1, अर्बन इस्टेट,
जमालपुर कॉलोनी, लुधियाणा, पंजाब, इंडिया-141010
मोबाइल नंबर : 9646150249

पहला संस्करण : अक्टूबर 2021

कवर डिज़ाइन एवं टाइपसेटिंग : तजिंदर और विमला

मुद्रण : अप्पू आर्ट प्रेस, जलंधर

मूल्य : 15/-

क्रांतिकारी आंदोलन का सैद्धांतिक विकास

(चापेकर बंधुओं से भगतसिंह तक)

शिव वर्मा

स्वाधीनता संग्राम में क्रांतिकारियों के प्रवेश की घोषणा करने वाला पहला धमाका 1897 में पूना में चापेकर बंधुओं ने किया था। पूना शहर में उन दिनों प्लेग ज़ोरों पर था। रैंड नाम के एक अंग्रेज़ को वहाँ प्लेग कमिश्नर बनाकर भेजा गया। वह बड़ा ही ज़ालिम और तानाशाह क़िस्म का आदमी था। उसने प्लेग से प्रभावित मकानों को बिना कोई अपवाद ख़ाली कराए जाने का हुक्म जारी कर दिया। जहाँ तक उस हुक्म का सवाल है उसमें कोई ग़लत बात नहीं थी। लेकिन जिस तरह रैंड ने इस हुक्म पर अमल करवाया, उससे वह अलोकप्रिय हो गया। लोगों को उनके घरों से निकाला गया और उन्हें कपड़े, बरतन आदि तक ले जाने का समय नहीं दिया गया।

4 मई, 1897 को लोकमान्य तिलक ने अपने पत्र *केसरी* में एक लेख लिखकर न सिर्फ़ नीचे के अफ़सरों पर बल्कि ख़ुद सरकार पर इल्ज़ाम लगाया कि वह जान-बूझकर जनता का उत्पीड़न कर रही है। उन्होंने रैंड को निरंकुश बतलाया और सरकार पर "दमन का सहारा लेने" का आरोप लगाया।

फिर आया शिवाजी समारोह। इस अवसर पर, 12 जून, 1897 को एक सार्वजनिक सभा में अध्यक्ष पद से बोलते हुए तिलक ने कहा : "क्या शिवाजी ने अफ़ज़ल ख़ाँ को मारकर कोई पाप किया था? इस प्रश्न का उत्तर महाभारत में मिल सकता है। गीता में श्रीमन कृष्ण ने अपने गुरुओं और बांधवों तक को मारने का उपदेश दिया है। उनके अनुसार अगर कोई व्यक्ति निष्काम भाव से कर्म

करता है तो वह किसी भी तरह पाप का भागी नहीं बनता है। श्री शिवाजी ने अपने उदर-पूर्ति के लिए कुछ नहीं किया था। बहुत ही नेक इरादे के साथ, दूसरों की भलाई के लिए उन्होंने अफ़ज़ल ख़ाँ का वध किया। अगर चोर हमारे घर में घुस आएँ और हमारे अंदर उनको बाहर निकालने की ताक़त न हो तो हमें बेहिचक दरवाज़ा बंद करके उनको ज़िंदा जला देना चाहिए। ईश्वर ने हिंदुस्तान के राज्य का पट्टा ताम्र-पत्र पर लिखकर विदेशियों को तो नहीं दिया है। शिवाजी महाराज ने उनको अपनी जन्मभूमि से बाहर खदेड़ने की कोशिश की। ऐसा करके उन्होंने दूसरों की वस्तु हड़पने का पाप नहीं किया। कुएँ के मेढ़क की तरह अपनी दृष्टि को संकुचित मत करो, ताजीराते-हिंद की क़ैद से बाहर निकलो, श्रीमद्भगवद्गीता के अत्यंत उच्च वातावरण में पहुँचो और महान व्यक्तियों के कार्यों पर विचार करो।"[1]

और 22 जून को चापेकर भाइयों ने रैंड व ऐवर्स्ट को मार दिया। इस तरह, ऊपरी तौर पर देखने से यही लगता है कि चापेकर भाइयों के कार्य के तात्कालिक प्रेरक तत्त्व रैंड की निरंकुशता और तिलक का भाषण थे। लेकिन यह सिर्फ़ अर्द्धसत्य है। दरअसल, चापेकर बंधुओं के विचार महामारी फैलने या रैंड के पूना आने से बहुत पहले से ही एक शक्ल अख़्तियार करने लगे थे।

1894 में ही चापेकर भाइयों ने पूना में शारीरिक और सैनिक प्रशिक्षण के लिए 'हिंदू धर्म अवरोध निवारण समिति' क़ायम कर रखी थी कि जिसे हिंदू संरक्षिणी समिति भी कहा जाता था। यह समिति हर साल नियमपूर्वक शिवाजी व गणपति समारोह आयोजित करती थी। इन समारोहों में चापेकर भाइयों द्वारा पढ़े जाने वाले श्लोकों से उनकी भावना का पता चलता है। जनता से तलवार उठाने का आग्रह करते हुए 'शिवाजी श्लोक' कहता है :

"भाँड की तरह शिवाजी की कहानी दुहराने-मात्र से स्वाधीनता प्राप्त नहीं की जा सकती। आवश्यकता इसकी है कि शिवाजी और बाज़ी की तरह तेज़ी के साथ काम किए जाएँ। आज हर भले आदमी को तलवार और ढाल पकड़नी चाहिए - यह जानते हुए कि हमें राष्ट्रीय संग्राम के युद्धक्षेत्र में जीवन का जोखिम उठाना होगा। हम धरती पर उन दुश्मनों का ख़ून बहा देंगे जो हमारे धर्म का विनाश कर रहे हैं। हम तो मारकर मर जाएँगे, लेकिन तुम औरतों की तरह सिर्फ़ कहानियाँ सुनाते रहोगे।"[2]

'गणपति श्लोक' तो 'शिवाजी श्लोक' से भी ज़्यादा उग्र था। गौ और धर्म

की रक्षा के लिए उठ खड़े होने का आह्वान करते हुए इसमें हिंदुओं से कहा गया है : "अफ़सोस, तुम ग़ुलामी की ज़िंदगी पर शर्मिंदा नहीं हो; जाओ, आत्महत्या कर लो। उफ़्! ये कमीने कसाइयों की तरह गाय और बछड़ों को मार रहे हैं; उसे (गौ को) इस संकट से मुक्त कराओ; मरो लेकिन अंग्रेज़ों को मारकर; नपुंसक होकर धरती पर बोझ न बनो। इस देश को हिंदुस्तान कहा जाता है; अंग्रेज़ भला किस तरह यहाँ राज कर रहे हैं?[3]

इस तरह हम देखते हैं कि चापेकर बंधु और उनके सहयोगी मुख्यत: तीव्र धार्मिक भावनाओं से उत्प्रेरित थे और उनका दृष्टिकोण घोर कट्टरपंथी था। संभवत: इसी कारण से वे ब्रिटिश विरोधी ही नहीं, मुस्लिम विरोधी भी थे।

चापेकर बंधुओं की देशभक्ति हिंदुत्व पर आधारित थी। वे हिंदू धर्म और गौ की रक्षा के लिए अंग्रेज़ों को बाहर भगाना चाहते थे। रैंड की हत्या भी एक ऐसे व्यक्ति के प्रति उनकी गहरी नफ़रत का नतीजा थी जो अपनी दमन और निरंकुशता की कार्रवाइयों के कारण पूरी जनता की घृणा का पात्र बन गया था।

जहाँ तक उनको प्रेरित करने वाले दूसरे कारणों का सवाल है, इसका कोई सुबूत नहीं मिलता कि वे 1857 के भारतीय स्वाधीनता संग्राम से या फ़्रांसीसी व इतालवी क्रांतियों से प्रभावित रहे हों।

इन तमाम सीमाओं के बावजूद मुक़दमे के दौरान या बाद में, चापेकर भाइयों ने जिस वीरता, साहस और आत्मबलिदान की भावना का परिचय दिया उसके महत्त्व को किसी भी तरह कम करके आँका नहीं जा सकता। सर ऊँचा किए हुए तीनों भाइयों ने फाँसी के फंदे को चूमा।

गुलामी और आज़ादी की समस्याओं के प्रति यह धार्मिक दृष्टिकोण चापेकर भाइयों तक ही सीमित नहीं था। सावरकर बंधु भी धार्मिक रहे...बंगाल के क्रांतिकारियों ने भी धर्म के सहारे लोगों को उभाड़ा था। इस वाक्य से शायद यह ग़लतफ़हमी हो कि वे धर्म को न मानते थे केवल उभाड़ने का काम उससे लेते थे, इसलिए यह कह देना ज़रूरी है कि वे स्वयं धर्म के कट्टर मानने वाले थे।[4]

1902 में कलकत्ता में क़ायम अनुशीलन समिति की कार्यप्रणाली का वर्णन करते हुए तारिणीशंकर चक्रवर्ती लिखते हैं : "क्रांतिकारी कार्य के लिए जो इस समिति में आते थे, उनको दो वर्गों में बाँटा जाता था। धर्म में जिनकी आस्था थी उनको एक वर्ग और धर्म-विशेष में, जिन्हें आस्था नहीं थी परंतु क्रांतिकारी कार्यों में विशेष निष्ठा थी, ऐसी लड़कों को दूसरे वर्ग में रखा जाता था।" "धर्म के प्रति

जो श्रद्धावान थे वे इस बग़ीचे (मानिकतल्ला बागान - स.) में रहते थे...ये ही लड़के प्रथम कोटि के क्रांतिकारी समझे जाते थे।"[5]

उस समय बंगाल के क्रांतिकारियों का बहुमत बंकिमचन्द्र चटर्जी और स्वामी विवेकानंद से बेहद प्रभावित था। "अनुशीलन समिति के सदस्यों को हिंदू ग्रंथों, ख़ासकर गीता को बहुत ध्यान से पढ़ना पड़ता था।"[6]

"बंकिमचन्द्र चटर्जी और स्वामी विवेकानंद की बौद्धिक परंपरा में पले-बढ़े बंगाल के बीसवीं सदी के पहले दशक के ये क्रांतिकारी धार्मिक उपादानों और कर्मकांडों से तथा प्राचीन व तात्कालिक हिंदुत्व के पौराणिक उपाख्यानों, प्रतीकों, गीतों और नारों से प्रेरणा ग्रहण करते थे।"[7]

इस तरह, क्रांतिकारी आंदोलन के पहले चरण (1897-1913) के क्रांतिकारी आमतौर पर हिंदू धर्म के प्रति आस्थावान थे और उससे प्रेरणा ग्रहण करते थे। यह कोई आकस्मिक बात नहीं थी। इसके ऐतिहासिक कारण थे। पिछली सदी के आठवें दशक में तरुण भारत के दिलों को एक नई भावना मथ रही थी। शिक्षित युवक राजनीतिक दृष्टिकोण से सोचने लगे थे। एक नई क़िस्म का राष्ट्रवाद जन्म ले रहा था। यह नया राष्ट्रवाद पुराने राजनीतिवाद के मुक़ाबले ज़्यादा संजीदा, ज़्यादा खुले दिमाग़ वाला था। यह इस विचार से लैस और प्रेरित था कि पूरे राष्ट्रीय जीवन का पुनरुत्थान आवश्यक है। भारतीय मानस किस सीमा तक आंदोलित हो उठा था, इसका अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि सभी बेहतरीन सोच के लोगों की नई भावनाएँ और विचार धर्म से अनुप्राणित थे। पुराने देवताओं की जगह घृणा और रक्त के नए देवताओं की पूजा होने लगी थी।[8]

इस सीमा तक, धर्म की एक सकारात्मक भूमिका अवश्य थी। लेकिन इसका एक नकारात्मक पहलू भी था। इस दौर में बाल गंगाधर तिलक, बिपिनचन्द्र पाल, ब्रह्म बांधव उपाध्याय और अरविंद घोष जैसे सभी जुझारू राष्ट्रीय नेता राजनीति को धर्म के रंग में रँग रहे थे। इस तरह अचेतन रूप में ही सही, उन्होंने सांप्रदायिक राजनीति के विषवृक्ष लगाए। गाँधी और उनके अनुयायियों ने इस परंपरा को आगे बढ़ाया और अंत तक उससे चिपके रहे, जबकि क्रांतिकारियों ने 1914 में ही, जब उनका आंदोलन दूसरे चरण में प्रवेश कर रहा था, इसे छोड़कर धर्मनिरपेक्षता को अपना लिया था। धर्म और राजनीति का यह तालमेल तब से आज तक लगातार हमारे सार्वजनिक जीवन को तबाह करता रहा है, और अब तो इसके कारण हमारी राष्ट्रीय एकता का

ढाँचा ही चरमराता नज़र आ रहा है।

हालाँकि महाराष्ट्र के चापेकर बंधु और बंगाल के पहले दशक के क्रांतिकारी, दोनों प्राचीन भारतीय संस्कृति से प्रेरणा ग्रहण करते थे लेकिन दोनों के बीच एक मार्के का अंतर भी है।

30 अप्रैल, 1908 को किंग्सफ़ोर्ड की बग्घी पर एक बम आकर गिरा जिससे दो महिलाओं की मृत्यु हो गई। इस घटना पर टिप्पणी करते हुए 22 जून के *केसरी* में लोकमान्य तिलक ने लिखा : "1897 की हत्या और बंगाल के बमकांड के बीच काफ़ी अंतर है। जहाँ तक दिलेरी और कार्य को कुशलतापूर्वक संपन्न करने का सवाल है, चापेकर भाइयों का दर्जा बंगाल की बम पार्टी के सदस्यों से ऊँचा है। लेकिन अगर साध्य और साधन के नज़रिए से देखें तो बंगालियों की ज़्यादा तारीफ़ करनी होगी...वर्ष 1897 में पूना निवासी प्लेग के समय के दमन के शिकार थे, और उस दमन से उत्पन्न उत्तेजना का कोई शुद्ध राजनीतिक चरित्र नहीं था। यह शासन-प्रणाली ही ख़राब है और जब तक अधिकारियों को छाँट-छाँटकर व्यक्तिगत रूप से आतंकित नहीं किया जाता, तब तक वे व्यवस्था को बदलने पर तैयार नहीं होंगे - ऐसा कोई महत्त्वपूर्ण प्रश्न चापेकर भाइयों के सामने नहीं था। उनका कर्म प्लेग के बाद जारी दमन के, यानी एक विशेष कार्य के ख़िलाफ़ था। निश्चय ही बंगाल की बम पार्टी की दृष्टि एक ज़्यादा व्यापक पटल पर थी जिसे बंगाल के विभाजन ने उभारा था।"[9]

इतना ही नहीं, बंगाल के क्रांतिकारी धर्म को बहुत ज़्यादा महत्त्व देते थे, इस तथ्य के बावजूद आंदोलन के अंतिम लक्ष्य की दृष्टि से कहें तो, 1902 में ही उन्होंने एक बहुत महत्त्वपूर्ण घोषणा की थी। इसी वर्ष बंगाल के क्रांतिकारियों ने अपने को 'अनुशीलन समिति' नाम की एक पार्टी के रूप में संगठित किया था। समिति की स्थापना के समय जारी घोषणापत्र में कहा गया था : "अनुशीलन की कल्पना के समाज में अनपढ़, ग़रीब लोग नहीं होंगे, कायर, दुष्ट लोग नहीं होंगे और अस्वस्थ लोग भी नहीं होंगे। ऐसे समाज के निर्माण के लिए सभी प्रकार की विषमताओं को समाप्त करना होगा। विषमता के बीच मानव की मानवता विकसित नहीं हो सकती। मानव समाज से धन की विषमता, सामाजिक विषमता, सांप्रदायिक विषमता और प्रादेशिक विषमता दूर कर सभी मनुष्यों में समानता लानी होगी। केवल राष्ट्रीय सरकार द्वारा ही ऐसा किया जाना संभव है। पराधीनता की दशा में अनुशीलन के स्वप्न के समाज की स्थापना संभव नहीं है, इसीलिए

अनुशीलन पराधीनता के विरुद्ध विद्रोह की घोषणा करती है। अनुशीलन भारत की पूर्ण स्वतंत्रता चाहती है।"[10]

अनुशीलन समिति की यह घोषणा निश्चय ही आगे की तरफ़ एक बहुत बड़ा क़दम था। यहीं पर बंगाल के क्रांतिकारी 1897 के पूना केन्द्र से आगे हैं। चापेकर बंधु विदेशियों से नफ़रत तो करते थे मगर वे खुद क्या चाहते हैं इसके बारे में स्पष्ट नहीं थे। यह बात बंगाल के क्रांतिकारियों के साथ नहीं थी। ये लोग मुस्लिम विरोधी भी नहीं थे, हालाँकि वे धार्मिक लोग थे और हिंदू ग्रंथों से प्रेरणा प्राप्त करते थे।

इसके विपरीत इस दौर के पंजाब के क्रांतिकारी आरंभ से ही सांप्रदायिकता के दोष से मुक्त थे। सरदार अजीत सिंह, लालचंद 'फ़लक', सूफ़ी अंबा प्रसाद, लाला हरदयाल और उनके सभी सहयोगी धर्मनिरपेक्ष थे। धर्म उनके लिए एक निजी मामला था।

शताब्दी के पहले दशक के क्रांतिकारी जिन स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण कर रहे थे उनमें धर्म के अलावा एक था 1857 का भारत का पहला स्वाधीनता संग्राम। "इस विषय पर 1907 या 1908 में लंदन में लिखी गई वीर सावरकर की पुस्तक ने अपनी तमाम अपर्याप्तताओं के बावजूद, जो उस दौर में और उस समय के हालात में स्वाभाविक थी, बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। इस विषय पर ब्रिटिश साम्राज्यवादी लेखकों द्वारा फैलाए गए लांछनों तथा उनके झूठे ऐतिहासिक लेखन की धज्जियाँ उड़ाकर इस पुस्तक ने बहुत बड़ा काम किया। इसने बातों को सही तौर पर सामने रखा। इस किताब पर ब्रिटिश शासकों ने फ़ौरन प्रतिबंध लगा दिया, लेकिन फिर भी यह मेहनत से और गुप्त रूप से तैयार की गई पांडुलिपि के रूप में भारत के उस समय के क्रांतिकारियों के बीच घूमती रही।"[11]

वास्तविकता यह है कि 1857 का जन-विद्रोह पूरे स्वाधीनता संग्राम के दौरान सभी स्वाधीनता सेनानियों के लिए प्रेरणा का स्रोत बना रहा।

शताब्दी के पहले दशक में क्रांतिकारियों के लिए प्रेरणा का दूसरा स्रोत था फ़्रांसीसी, इतालवी और रूसी क्रांतिकारियों की कहानियाँ।

आंदोलन के पहले चरण की कमज़ोरियाँ और सीमाएँ

आंदोलन के पहले चरण के दौरान पूना और बंगाल के क्रांतिकारियों की पहली कमज़ोरी थी उनका हिंदू पूर्वाग्रह। इस पूर्वाग्रह ने मुस्लिम जनता को

आंदोलन से दूर रखा। हालाँकि बंगाल के क्रांतिकारी मुस्लिम विरोधी नहीं थे, लेकिन मुस्लिम जनता से कार्यकर्ता भरती करने का कोई गंभीर प्रयास उन्होंने कभी नहीं किया। इस कथन के कुछ अपवाद यहाँ-वहाँ मिल सकते हैं। लेकिन अपवाद कभी नियम नहीं बनते।

आंदोलन के दायरे को सीमित करने वाली दूसरी कमज़ोरी थी जनता के साथ जीवंत संबंधों का न होना। स्वदेशी आंदोलन के तीन या चार सालों को छोड़कर, जब बंगाल के क्रांतिकारी जनता के बीच गए और लोगों को सक्रिय होने के लिए प्रोत्साहित किया, आमतौर पर क्रांतिकारी व्यक्तिगत क्रियाशीलता में विश्वास रखते थे, जिसे सरकार आतंकवाद के ग़लत नाम से पुकारती थी। जनता इन क्रांतिकारियों के आत्मबलिदान, निर्भीकता और साहस की प्रशंसा तो करती थी लेकिन अपनी रोज़मर्रा की समस्याओं के साथ उनकी कार्रवाइयों को जोड़ सकने में असमर्थ रहती थी। ऐसी स्थिति में साम्राज्यवादियों के लिए क्रांतिकारियों का दमन कर सकना और भी आसान हो जाता था।

आंदोलन की तीसरी सीमा थी उसके कार्यकर्ताओं का वर्ग-चरित्र। क्रांतिकारी आंदोलन के कार्यकर्ताओं का एक बड़ा बहुमत निम्न-मध्यम वर्ग से संबंधित था। इस चरण में यह एकदम स्वाभाविक था। यह वही दौर था जबकि नई पीढ़ी विदेशी शासन से पूर्ण मुक्ति का दावा करने लगी थी। यह पीढ़ी खुद को 'वयस्क' समझने लगी थी। नौजवान तबके में बेचैनी थी मगर पुराना नेतृत्व होम रूल के लिए प्रस्तावों और प्रार्थनापत्रों से आगे बढ़ने को तैयार न था। लेकिन शिक्षित नौजवान एक नई दुनिया पाने के लिए अपना सब लुटा देने पर आमादा था। नौजवानों का विश्वास था कि वे जुझारू सशस्त्र संघर्ष के जरिए देश को आज़ाद करा सकते हैं। इसके लिए वे अपना जीवन तक होम कर देने को तैयार थे।

मध्यम वर्ग स्वभाव से ही व्यक्तिवादी होता है। यह एक शक्तिशाली सहयोगी हो सकता है। अगर यह पूँजीपति वर्ग की तरफ़ जाता है तो प्रतिक्रियावाद का वाहक हो जाता है। अगर यह मज़दूर वर्ग के साथ खड़ा होता है तो, स्वयं नेतृत्व प्रदान कर सकने की क्षमता न होते हुए भी, एक क्रांतिकारी शक्ति बन जाता है। इसकी स्वतंत्र कार्रवाइयाँ प्रायः व्यक्तिगत कार्रवाइयों का रूप ले लेती हैं। जिस दौर की बात हम कर रहे हैं उस समय स्वाधीनता के लिए जनांदोलन खड़ा कर सकने में न तो पूँजीपति वर्ग समर्थ था और न मज़दूर वर्ग ही। इस चुनौती का

सामना अपने सपनों को साकार करने के लिए सबकुछ क़ुर्बान कर देने को तैयार इन मध्यमवर्गीय नौजवानों ने स्वभावत: अपने ढंग से किया जो आरंभ में व्यक्तिगत कार्रवाइयों का ही रूप ले सकती थी। यह सीमा एक ऐतिहासिक प्रक्रिया की उपज थी।

ग़ुलामी की अपमानजनक स्थिति के सामने समर्पण करने से बेहतर होता है चोट करना और नष्ट हो जाना। किसी न किसी को पहली चोट करनी ही पड़ती है। पहली चोट का कोई नतीजा नहीं निकलता और पहली चोट करने वाले ज़्यादातर नष्ट हो जाते हैं। लेकिन उनकी क़ुर्बानियाँ कभी बेकार नहीं जातीं। झरना बढ़कर गरजता हुआ दरिया बन जाता है, चिनगारी ज्वालामुखी बनती है, व्यक्ति समष्टि से एकाकार हो जाता है। पुरानी व्यवस्था की जगह एक नई व्यवस्था आती है, और सपना एक हक़ीक़त का रूप ले लेता है। क्रांतियाँ इसी तर्ज़ पर आगे बढ़ती हैं। भारत का क्रांतिकारी आंदोलन भी ठीक इसी तर्ज़ पर आगे बढ़ा।

"भारतीय क्रांतिकारियों ने, अकल्पनीय कठिनाइयों के बीच भी, आधुनिक युग की सबसे बड़ी साम्राज्यवादी-उपनिवेशवादी ताक़त को चुनौती देने की जुर्रत की। इतना ही नहीं, उस युग के क्रांतिकारी शूरवीरों - चापेकर भाइयों, ख़ुदीराम, कनाईलाल और मदनलाल धींगरा ने अपने आत्मबलिदान और शहादत के माध्यम से अपने ऊँघते हुए देशवासियों को जगाया और उन्हें राष्ट्रीय स्वाधीनता तथा अपने जन्मसिद्ध जनवादी राजनीतिक अधिकारों के उच्च विचारों से भी परिचित कराया। क्रांतिकारी आंदोलन, ऐतिहासिक रूप से, अपने ढंग का वह पहला आंदोलन था जिसने राष्ट्रीय स्वाधीनता और संप्रभुता के लिए भारत के संघर्ष के राजनीतिक उद्देश्य के रूप में पूर्ण स्वाधीनता तथा ब्रिटिश साम्राज्य से हर तरह के राजनीतिक संबंध-विच्छेद के लक्ष्य को जनता के सामने रखा। ठीक इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर उन्होंने विदेशी साम्राजी शासन के विरुद्ध संगठित हथियारबंद संघर्ष के लिए जनता का आह्वान किया।

"वे शुरू से ही भारतीय जनता के लिए पूर्ण राष्ट्रीय प्रभुसत्ता और लोकतांत्रिक स्वतंत्रता के लिए अनवरत संघर्ष करते रहे और उस लक्ष्य से कभी डिगे नहीं।

"उनकी शहादतों ने उनके प्रति जनता की प्रशंसा को उभारकर विदेशी साम्राज्यवादी शासन के प्रति उसकी नफ़रत को और भी तीखा बनाया और उसके संघर्षशील साहस को और भी ऊँचा उठाया।"[12]

ग़दर पार्टी की स्थापना

क्रांतिकारी आंदोलन के पहले दौर में बहुत-से क्रांतिकारी देश छोड़कर यूरोप और अमेरिका चले गए थे। उनका उद्देश्य था भारत में क्रांतिकारी गतिविधियों के संचालन के लिए धन संग्रह करना, प्रचार करना और साहसी, आत्मत्यागी तथा समर्पित युवकों की एक टीम खड़ी करना। इस काम में उनको कुछ कम सफलता नहीं मिली। लेकिन जहाँ तक अंतिम लक्ष्य का प्रश्न है, उनके विचार अभी तक भारत की आज़ादी की एक भावनात्मक धारणा तक ही सीमित थे। क्रांति के बाद स्थापित होने वाली सरकार की रूपरेखा क्या होगी, दूसरे देशों की क्रांतिकारी शक्तियों के साथ उसके संबंध क्या होंगे, नई व्यवस्था में धर्म का क्या स्थान होगा, आदि प्रश्नों पर उस समय के अधिकांश क्रांतिकारी स्पष्ट नहीं थे। यह सूरत कमोबेश 1913 तक जारी रही। इन सभी मुद्दों पर स्पष्ट रवैया अपनाने का श्रेय ग़दर पार्टी के नेताओं को जाता है।

इस शताब्दी के पहले दशक में भारत छोड़कर जाने वाले क्रांतिकारियों को अंग्रेज़ सरकार के हाथों में पड़ने से बचने के लिए एक देश से दूसरे देश तक भटकना पड़ता था। अंत में, उनमें से कइयों ने अमेरिका में बसने और उस देश को अपने कार्य का आधार-क्षेत्र बनाने का फ़ैसला किया। इनमें प्रमुख थे - तारकनाथ दास, शैलेन्द्र घोष, चन्द्र चक्रवर्ती, नंदलाल कार, बसंतकुमार राय, सारंगधर दास, सुधीन्द्रनाथ बोस तथा जी.डी. कुमार। पहले दशक के अंत तक लाला हरदयाल भी उनसे आ मिले। इन लोगों ने अमेरिका और कनाडा में बसे भारतीय प्रवासियों से संपर्क किया, धन संग्रह किया, अख़बार निकाले, और कई जगहों पर गुप्त संस्थाएँ क़ायम कीं।

तारकनाथ दास ने *फ़्री हिंदुस्तान* नाम से अख़बार निकाला और अमेरिका में रह रहे भारतीय छात्रों तथा भारतीय प्रवासियों के लिए व्याख्यान देते रहे। वे **समिति** नाम की एक गुप्त संस्था के प्रधान भी थे। इस संस्था के अन्य सदस्य थे - शैलेन्द्रनाथ बोस, सारंगधर दास, जी.डी. कुमार, लस्कर और ग्रीन नामक एक अमेरिकी।

रामनाथ पुरी ने 1908 में ओकलैंड में 'हिंदुस्तान एसोसिएशन' नाम की एक संस्था क़ायम की, और *सर्कुलर ऑफ़ फ़्रीडम* नाम से एक अख़बार निकाला। ये इस अख़बार के माध्यम से अंग्रेज़ों को भारत से खदेड़े जाने की वकालत करते रहे। जी.डी. कुमार ने वैंकूवर से *स्वदेशी सेवक* नामक अख़बार निकाला। वे वहाँ की एक गुप्त संस्था के सदस्य भी थे। इस संस्था के सदस्य रहीम और सुंदर सिंह

भी थे। सुंदर सिंह *आर्यन* नाम के एक अख़बार का संपादन भी करते थे और उसके जरिए लगातार ब्रिटिश-विरोधी प्रचार चलाते थे। रहीम और आत्माराम ने वैंकूवर में 'यूनाइटेड इंडिया लीग' का गठन किया।

लाला हरदयाल 1911 में अमेरिका पहुँचे और वहाँ स्टैनफ़ोर्ड विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हो गए। सैन फ़्रांसिस्को में 'हिंदुस्तानी स्टूडेंट्स एसोसिएशन' नाम की एक संस्था उन्होंने गठित की। 1913 में एस्टोरिया की 'हिंदुस्तानी एसोसिएशन' का गठन हुआ। करीम बख़्श, नवाब ख़ान, बलवंत सिंह, मुंशीराम, केसर सिंह और करतार सिंह सराभा इसके सदस्य थे। ठाकुरदास और उनके मित्रों ने सेंट जॉन में रहने वाले भारतीयों की एक संस्था गठित की। 1913 में शिकागो में 'हिंदुस्तानी एसोसिएशन ऑफ़ दि युनाइटेड स्टेट्स ऑफ़ अमेरिका' का गठन हुआ।[13]

लाला हरदयाल ने महसूस किया कि संयुक्त राज्य अमेरिका के विभिन्न हिस्सों में कार्यरत इन संगठनों की गतिविधियों का समन्वय आवश्यक है। अत: उन्होंने कनाडा और अमेरिका में रहने वाले भारतीय क्रांतिकारियों की एक मीटिंग बुलाई। इस मीटिंग में 'हिंदुस्तानी एसोसिएशन ऑफ़ द पैसिफ़िक कोस्ट' नाम की एक संस्था के गठन का फ़ैसला लिया गया। बाबा सोहन सिंह भकना और लाला हरदयाल इसके क्रमश: अध्यक्ष और सचिव चुने गए। लाला हरदयाल नौकरी से इस्तीफ़ा देकर अपना पूरा समय एसोसिएशन के काम में लगाने लगे।

मार्च 1913 में एसोसिएशन ने सैन फ़्रांसिस्को से *ग़दर* नाम से एक अख़बार निकालने का फ़ैसला किया। उसके बाद एसोसिएशन का नाम भी बदलकर 'ग़दर' पार्टी कर दिया गया।

आगे की तरफ़ एक बड़ा क़दम

1913 में ग़दर पार्टी का गठन क्रांतिकारी आंदोलन के विकास की दिशा में एक बहुत बड़ा एवं महत्त्वपूर्ण क़दम था। इसने राजनीति को धर्म से मुक्त किया और धर्मनिरपेक्षता को अपनाया। धर्म को निजी मामला घोषित कर दिया गया।

अख़बार *ग़दर* ने हिंदू-मुसलमान दोनों का आह्वान किया कि वे आर्थिक मसलों पर ज़्यादा ध्यान दें क्योंकि उनका दोनों के जीवन पर एक जैसा प्रभाव पड़ता है। प्लेग से हिंदू और मुसलमान दोनों ही मर रहे हैं। अकाल पड़ने पर अन्न से दोनों ही वंचित रहते हैं। पगार के लिए ज़ोर-ज़बरदस्ती दोनों पर की जाती है

और दोनों को ही अत्यधिक ऊँची दरों पर भू-राजस्व तथा जल-कर देना पड़ता है। समस्या हिंदू बनाम मुसलमान की नहीं बल्कि भारतीय बनाम अंग्रेज़ शोषकों की है। हिंदू-मुस्लिम एकता को इतना मज़बूत बनाया जाना चाहिए कि कोई उसे तोड़ न सके।[14]

ग़दर पार्टी "धर्मनिरपेक्षता में विश्वास करती थी और ठोस हिंदू-मुस्लिम एकता की तरफ़दार थी। वह छूत और अछूत के भेदभाव को भी नहीं मानती थी। भारत की एकता और भारत के स्वाधीनता-संग्राम के लिए एकता, यही उसे प्रेरित करने वाले प्रमुख सिद्धांत थे।"[15] इस मामले में ग़दर पार्टी उस समय के भारतीय नेताओं से मीलों आगे थी। सोहन सिंह जोश के अनुसार, "ग़दर के क्रांतिकारी राजनीतिक-सामाजिक सुधार के सवालों पर अपने समसामयिकों से आगे थे।"[16]

14 मई, 1914 को *ग़दर* में प्रकाशित एक लेख में लाला हरदयाल ने लिखा : "प्रार्थनाओं का समय गया; अब तलवार उठाने का समय आ गया है। हमें पंडितों और क़ाज़ियों की कोई ज़रूरत नहीं है।"[17] 1913 में पोर्टलैंड में भाषण देते हुए उन्होंने कहा था कि ग़दर के क्रांतिकारियों को आगामी क्रांति के लिए तैयार रहना चाहिए। उन्हें भारत जाकर और वहाँ से अंग्रेज़ों को भगाकर अमेरिका जैसी एक जनतांत्रिक सरकार क़ायम करनी चाहिए जिसमें धर्म, जाति और रंग के अंतर से परे सभी भारतीय समान और स्वतंत्र हों।

लाला हरदयाल ने, जो अपनेआप को अराजकतावादी कहा करते थे, एक बार कहा था कि स्वामी और सेवक के बीच कभी कोई समानता नहीं हो सकती, भले ही वे दोनों मुसलमान हों, सिख हों, अथवा वैष्णव हों। अमीर हमेशा ग़रीब पर शासन करेगा...आर्थिक समानता के अभाव में भाईचारे की बात सिर्फ़ एक सपना है।[18]

हिंदुस्तानियों के बीच सांप्रदायिक सद्भाव बढ़ाने को ग़दर पार्टी ने अपना एक उद्देश्य बनाया। युगांतर आश्रम नाम के ग़दर पार्टी के दफ़्तर में सवर्ण हिंदू, अछूत, मुसलमान और सिख, सभी जमा होते और साथ-साथ भोजन करते थे।

धर्म जब राजनीति के साथ घुलमिल जाता है तो वह एक घातक विष बन जाता है जो राष्ट्र के जीवंत अंगों को धीरे-धीरे नष्ट करता रहता है, भाई को भाई से लड़ाता है, जनता के हौसले पस्त करता है, उसकी दृष्टि को धुँधला बनाता है, असली दुश्मन की पहचान कर पाना मुश्किल कर देता है, जनता की जुझारू मनःस्थिति को कमज़ोर करता है, और इस तरह राष्ट्र को साम्राज्यवादी साज़िशों

की आक्रमणकारी योजनाओं का लाचार शिकार बना देता है। भारत में इस बात को सबसे पहले ग़दर के क्रांतिकारियों ने महसूस किया। उन्होंने दिलेरी के साथ एलान किया कि वे इस ज़हर को अपनी राजनीति से दूर ही रखेंगे। और उन्होंने जो कहा वैसा ही किया भी। भारतीय राजनीति में यह उनकी पहली महान उपलब्धि थी।

ग़दर के क्रांतिकारियों की दूसरी महान उपलब्धि थी, उनका अंतरराष्ट्रीय दृष्टिकोण। "ग़दर का आंदोलन एक अंतरराष्ट्रीय आंदोलन था। उसकी शाखाएँ मलाया, शंघाई, इंडोनेशिया, ईस्ट इंडीज़, फिलीपींस, जापान, मनीला, न्यूज़ीलैंड, हांगकांग, सिंगापुर, फिजी, बर्मा और दूसरे देशों में कार्यरत थीं। ग़दर पार्टी के उद्देश्यों के प्रति इंडस्ट्रियल वर्कर्स ऑफ़ द वर्ल्ड (आई.डब्ल्यू.डब्ल्यू.) की बहुत हमदर्दी थी...वे (ग़दर के क्रांतिकारी) सभी देशों की आज़ादी के तरफ़दार थे।"[19]

कई कवियों की लिखी हुई कविताओं के संग्रह *ग़दर दी गूँज* में एक कवि कहता है : "भाइयो, चीन के ख़िलाफ़ जंग में न लड़ो। भारत, चीन और तुर्की के अवाम आपस में भाई हैं। दुश्मन को इसकी इजाज़त नहीं दी जानी चाहिए कि वह इस भाईचारे को तहस-नहस कर सके।"[20]

वैंकूवर में 1911 में एक संस्था क़ायम हुई थी जिसका उद्देश्य था बाक़ी दुनिया के साथ भारतीय राष्ट्र के स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे के संबंध क़ायम करना। लाला हरदयाल ने भी कई बार अपने भाषणों में यह घोषणा की थी कि वे केवल भारत में ही नहीं बल्कि हर उस देश में क्रांति चाहते हैं जहाँ गुलामी और शोषण मौजूद है।[21]

ग़दर के क्रांतिकारियों के प्रचार का एक प्रमुख अंग था दुनिया की श्रमिक यूनियनों के नाम अपील जारी करना। उन्होंने पूरी दुनिया के जनसाधारण से अपील की कि वे साम्राजी निज़ाम को उखाड़ फेंकने के लिए एकजुट हों।[22]

विचारधारा और कार्यक्रम

ग़दर पार्टी ब्रिटिश शासन की विरोधी थी और उसका उद्देश्य था सशस्त्र संघर्ष के जरिए भारत को ब्रिटिश शासन से मुक्त करके यहाँ अमेरिकी ढंग का प्रजातंत्र स्थापित करना। उसका विश्वास था कि प्रस्तावों, प्रतिनिधि-मंडलों और प्रार्थना-पत्रों से हमें कुछ मिलने वाला नहीं है। अंग्रेज़ शासकों के सामने नरमदलीय नेताओं का नाचना भी वे पसंद नहीं करते थे। जिस गणतंत्र की बात

वे करते थे उसमें किसी तरह के राजा की नहीं, बल्कि एक चुने हुए राष्ट्रपति की गुंजाइश थी।

भारत की आज़ादी हासिल करने के लिए ग़दर पार्टी व्यक्तिगत कार्रवाइयों पर उतना निर्भर नहीं करती थी जितना इस बात पर कि सेना में प्रचार करके सैनिकों को विद्रोह के लिए प्रोत्साहित किया जाए। उन्होंने सैनिकों से अपील की कि वे विद्रोह के लिए उठ खड़े हों।

ग़दर के क्रांतिकारियों का वर्ग-चरित्र भी पहले के क्रांतिकारियों से भिन्न था। पुराने क्रांतिकारी मुख्यत: निम्न-मध्यम वर्ग के कुछ शिक्षित लोग थे जबकि ग़दर पार्टी के अधिकांश सदस्य किसान से मज़दूर बने लोग थे, और इसलिए उन्होंने विद्रोह के लिए किसानों से भी उठ खड़े होने की अपील की।

दो कमज़ोरियाँ

ग़दर पार्टी की स्थापना अमेरिका में हुई थी जहाँ लोगों को कुछ नागरिक स्वाधीनताएँ और अभिव्यक्ति की आज़ादी हासिल थी जबकि उस समय भारत में ये चीज़ें नहीं थीं। वहाँ ग़दर के नेता खुलकर अपनी योजनाओं, इरादों और कार्यक्रम पर बहस करते और उन पर लेख लिखते थे। इस तरह ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को उनकी योजनाओं की पूरी-पूरी जानकारी रहती थी और वे ग़दर के क्रांतिकारियों की गतिविधियों से पैदा हो सकने वाली हर स्थिति से निपटने को तैयार थे। ग़दर के नेताओं और कार्यकर्ताओं की इस अगोपनीयता की बहुत बड़ी क़ीमत पार्टी को चुकानी पड़ी।

दूसरी प्रमुख कमज़ोरी उनका यह भ्रामक विश्वास था कि एक साम्राज्यवादी शक्ति उनको दूसरी साम्राज्यवादी शक्ति के चंगुल से आज़ाद कराने में ईमानदारी के साथ सहायता करेगी। उनके दिमाग़ में यह बात साफ़ नहीं थी कि जर्मन हो या ब्रिटिश या कोई और - सभी साम्राज्यवादी शक्तियों की प्रवृत्ति एक जैसी होती है। जब पहला विश्वयुद्ध आरंभ हुआ तब ग़दर पार्टी और दूसरे क्रांतिकारियों ने नारा दिया कि "ब्रिटेन की मुसीबत हमारे लिए सुनहरा अवसर है," और कि "दुश्मन का दुश्मन दोस्त होता है"। इस विश्वास के साथ उन्होंने जर्मनी के क़ैसर से सहायता के लिए संपर्क किया। क़ैसर के प्रतिनिधियों से बातचीत के दौरान स्वाधीन भारत की भावी व्यवस्था से संबंधित कुछ शर्तें भी उन्होंने रखने की कोशिश की। मगर इस नुक्ते पर क़ैसर का जवाब हमेशा अस्पष्ट रहा। उसकी

दिलचस्पी जंग के दौरान ब्रिटेन के ख़िलाफ़ ग़दर पार्टी के क्रांतिकारियों का अधिक से अधिक इस्तेमाल कर सकने तक ही सीमित थी। उसके अपने जंगी उद्देश्य थे – ब्रिटेन और फ़्रांस से अधिक से अधिक उपनिवेश छीनना। इस तरह ग़दर के क्रांतिकारी साम्राज्यवाद की वास्तविक प्रकृति से एकदम अनजान थे। वास्तविक और स्थाई मुक्ति के लिए गुलाम देशों को पूरी साम्राज्यवादी व्यवस्था से लड़ाई लड़नी होगी। – यह बात रूस में अक्टूबर (नई प्रणाली में नवंबर) 1917 की क्रांति के बाद ही पूरी तरह स्पष्ट हुई।

महान अक्टूबर क्रांति और उसका प्रभाव

1917 की अक्टूबर समाजवादी क्रांति मानवता के इतिहास में एक युगांतरकारी घटना है। उसने केवल रूस में ही साम्राज्यवाद को पराजित नहीं किया बल्कि पूरी साम्राज्यवादी व्यवस्था को भी एक ज़बरदस्त झटका दिया। इस क्रांति ने रूस में मनुष्य द्वारा मनुष्य के और राष्ट्र द्वारा राष्ट्र के शोषण पर आधारित व्यवस्था को समाप्त कर दिया। सोवियत जनता अपने भाग्य की स्वामी बन गई। खेतों, कारख़ानों और वर्कशॉपों पर उसका सामूहिक स्वामित्व क़ायम हो गया। अक्टूबर क्रांति ने न सिर्फ़ रूस के अवाम को पूँजीपतियों और ज़मींदारों की गुलामी से मुक्त किया बल्कि एक बिल्कुल नए समाज और नए इन्सान को भी जन्म दिया। उसने गुलाम देशों के स्वाधीनता सेनानियों को प्रेरित किया और उनके अंदर विश्वास जगाया कि उनकी लड़ाई क़ामयाब होकर रहेगी। उसने दुनिया के विभिन्न हिस्सों में चल रहे मुक्ति-संघर्षों को नए आयाम भी दिए।

विश्वव्यापी साम्राज्यवाद-विरोधी संग्राम का अंग होने के नाते भारत का स्वाधीनता संग्राम भी इससे अछूता नहीं रहा। उसके दृष्टिकोण में भी एक फैलाव आया और महसूस किया गया कि आर्थिक और सामाजिक समानताओं के बिना आज़ादी का कोई अर्थ नहीं होगा।

अक्टूबर क्रांति और यूरोप तथा एशिया में साम्राज्यवाद-विरोधी क्रांति की लहर ने, और साथ ही प्रथम विश्वयुद्ध के उपरांत भारतीय जनता के क्रांति की तरफ़ बढ़ते क़दमों ने ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को चौकन्ना कर दिया था। उन्होंने अप्रिय स्थिति से निपटने के लिए दोतरफ़ा नीति अपनाई। एक तरफ़ तो उन्होंने मॉंटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड सुधारों का ढकोसला खड़ा करके नरमपंथी राष्ट्रीय नेताओं का समर्थन प्राप्त करने की कोशिश की और दूसरी तरफ़ राजद्रोह के मामलों की

छानबीन करने और क्रांतिकारियों के दमन के उपाय सुझाने के लिए न्यायमूर्ति रौलट की अध्यक्षता में एक कमेटी नियुक्त की। इस कमेटी की सिफ़ारिशें बड़ी ही पाशविक थीं। उसने साधारण राजनीतिक गतिविधियों तक को राजद्रोह क़रार दे दिया था। रौलट कमेटी की दमनकारी सिफ़ारिशों के विरोध में गाँधीजी ने एक दिन आम हड़ताल का आह्वान किया। इस आह्वान के अप्रत्याशित प्रभाव हुए और जनता अपना क्रोध व्यक्त करने के लिए एकजुट होकर सामने आ गई। यह सरकार के लिए ही नहीं, हमारे नेताओं के लिए भी एक नई बात थी। अंग्रेज़ों ने भारतीयों को सबक सिखाने का निश्चय किया और 13 अप्रैल, 1919 को जलियाँवाला बाग़ में इस निश्चय को अमली रूप भी दे दिया गया। इसके बाद तो जनता में ग़ुस्से की लहर दौड़ गई और पंजाब के लगभग सभी शहरों में लोग सड़कों पर निकल आए। सरकार ने उसे संगठित विद्रोह की संज्ञा दी। लेकिन वास्तव में गाँधीजी भी इस सबके लिए तैयार नहीं थे। उन्होंने एलान किया कि एक दिन की आम हड़ताल का नारा देकर उन्होंने भयंकर भूल की थी। उन्होंने लोगों से आंदोलन बंद करने और सुधारों पर अमल करने का अनुरोध किया।

सितंबर, 1920 में लाला लाजपत राय ने कांग्रेस को आगाह करते हुए कहा था कि जनता क्षुब्ध एवं परेशान है और कुछ कर गुज़रने के मूड में है। उन्होंने कांग्रेस से यह भी कहा कि अगर जनता के इस ग़ुस्से को सही रास्ते पर न डाला गया तो वह अपना रास्ता अपनाएगी जो देश के लिए अहितकर होगा। "इस तथ्य की ओर से आँखें बंद करने से कोई लाभ नहीं होगा कि हम क्रांतिकारी युग से होकर गुज़र रहे हैं।" उन्होंने एलान किया और कहा, "प्रकृति से और परंपरा से हम क्रांतियों को पसंद नहीं करते हैं।"[23] कांग्रेस ने नागपुर अधिवेशन में लाला जी की उस चेतावनी पर भी विचार किया और गाँधीजी को निर्देश दिया गया कि वे स्वराज्य के लिए असहयोग आंदोलन आरंभ करें। आंदोलन शुरू करने से पहले महात्मा जी बंगाल गए और कुछ क्रांतिकारी नेताओं से मिलकर उनसे एक साल का समय माँगा और कहा कि अगर वे एक साल के अंदर स्वराज्य न प्राप्त कर लें तो क्रांतिकारियों को अपने रास्ते पर चलने की पूरी छूट होगी। क्रांतिकारी नेताओं ने गाँधीजी की बात मान ली। सत्याग्रह आंदोलन शुरू हुआ। देखते-देखते वह सारे देश में फैल गया और गाँवों की छोटी-छोटी झोंपड़ियों तक में 'स्वराज्य' शब्द गूँजने लगा। आंदोलन में भाग लेने के लिए गाँधीजी ने जो भी रोकथाम की शर्तें लगाई थीं उन सबको भी तोड़कर किसान पूरे जोश के साथ आंदोलन में कूद

पड़े। "सरकार परेशान और घबराई हुई थी, उसके हाथ-पैर फूलने लगे थे। यदि सरकार की चौमुखी अवज्ञा की छूत शहरों से चलकर करोड़ों किसानों तक पहुँच जाती है तो अंग्रेज़ी हुकूमत के पास बचत के लिए कोई चारा नहीं रह जाएगा; तीस करोड़ जनता के विद्रोह की खौलती हुई हाँडी से उनकी सारी तोपें और हवाई जहाज़ भी उन्हें बचा नहीं सकेंगे।"[24] गाँधीजी भी खुश नहीं थे और उतने ही घबराए हुए थे। वे आंदोलन वापस लेने के लिए किसी अवसर की प्रतीक्षा में थे और फ़रवरी, 1922 में चौरी-चौरा की घटना से उन्हें यह अवसर मिल गया। बजाय इसके कि वे उस घटना का स्वागत करते और जनता से उसी प्रकार की हज़ारों और घटनाओं की माँग करते, उन्होंने किसी से सलाह लिए बग़ैर चुपचाप आंदोलन वापस ले लिया और राजनीति से अलग हो गए। इस पृष्ठभूमि में क्रांतिकारियों ने, जिन्होंने गाँधीजी के कहने पर हथियार रख दिए थे, अपने को संगठित करके फिर से हथियार उठाने का फ़ैसला किया।

हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन

सभी क्रांतिकारियों को एक अखिल भारतीय पार्टी में संगठित करने में पहल की शचीन्द्रनाथ सान्याल ने। इसी उद्देश्य से उन्होंने 1923 के अंत में 'हिंदुस्तान प्रजातंत्र संघ' (हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन) की बुनियाद डाली। उन्होंने पार्टी का संविधान भी तैयार किया जो पीले काग़ज़ पर छपा था और इसीलिए वह 'पीला परचा' के नाम से मशहूर है। एक और महत्त्वपूर्ण दस्तावेज़ जो उन्होंने तैयार किया वह था 'हिंदुस्तान प्रजातंत्र संघ' का घोषणापत्र जिसका शीर्षक था (दि रिवोल्यूशनरी)। यह दस्तावेज़ पहली जनवरी, 1925 की रात में पूरे उत्तर भारत में बाँटा गया था। 1917 की अक्टूबर क्रांति से प्रभावित होकर घोषणापत्र में भारतीय क्रांतिकारियों के उद्देश्य का एलान नीचे लिखे शब्दों में किया गया था :

"राजनीति के क्षेत्र में क्रांतिकारी पार्टी का तात्कालिक उद्देश्य संगठित सशस्त्र क्रांति द्वारा भारत के संयुक्त राज्यों का एक संघीय गणराज्य (फ़ेडरल रिपब्लिक ऑफ़ यूनाइटेड स्टेट्स ऑफ़ इंडिया) स्थापित करना है। इस गणराज्य के अंतिम संविधान का निर्माण एवं घोषणा तब होगी जब संपूर्ण भारत के प्रतिनिधि अपने निर्णयों को लागू करने में सक्षम होंगे। लेकिन इस गणराज्य का मूलभूत सिद्धांत सार्वजनिक मताधिकार पर और शोषण पर आधारित ऐसी समस्त व्यवस्थाओं की समाप्ति पर आधारित होगा जो मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को संभव बनाती हैं।

इस गणराज्य में मतदाताओं को, यदि वे चाहें तो, प्रतिनिधियों को वापस बुलाने का अधिकार होगा, अन्यथा प्रजातंत्र एक मखौल बनकर रह जाएगा।"

घोषणापत्र में कहा गया था कि "यह क्रांतिकारी पार्टी इन अर्थों में राष्ट्रीय न होकर अंतरराष्ट्रीय है कि इसका अंतिम उद्देश्य विश्व में मेल एवं सामंजस्य स्थापित करना है। यह विभिन्न राष्ट्रों और राज्यों के बीच प्रतिद्वन्द्विता के बजाय सहयोग चाहती है; और इन अर्थों में वह भारत के उज्ज्वल अतीत के महान ऋषियों एवं आज के बोल्शेविक रूस का अनुसरण करेगी।"[25]

घोषणापत्र में सांप्रदायिक समस्या के बारे में, जनता के आर्थिक एवं सामाजिक हितों के सवाल पर और कांग्रेस तथा अन्य राजनीतिक पार्टियों के बारे में क्रांतिकारियों के दृष्टिकोण को स्पष्ट किया गया था।

इन सभी सवालों पर घोषणापत्र का दृष्टिकोण निश्चित रूप से अतीत का दामन छोड़कर समाजवाद का और सोवियत को 'विजयी समाजवाद का पहला देश' कहकर उसका स्वागत करता है। उसमें हमें राष्ट्रीय आज़ादी के लिए चलने वाले आंदोलनों के अंतरराष्ट्रीय चरित्र की समझ भी देखने को मिलती है। हालाँकि यह समझ अभी बहुत साफ़ नहीं है। स्वतंत्र भारत की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था कैसी होगी, घोषणापत्र में उस पर भी प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मज़दूरों और किसानों को संगठित करने की आवश्यकता को भी स्वीकार किया गया है। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि घोषणापत्र का लेखक मार्क्सवादी था या उसने वैज्ञानिक समाजवाद के सारतत्त्व को आत्मसात कर लिया था। उसका झुकाव ख़ासतौर पर ईश्वर और रहस्यवाद की ओर है। घोषणापत्र के अनुसार, "पार्टी का उद्देश्य सत्य को प्रस्थापित करना और उसका प्रचार करना है। विश्व न माया है न भ्रम कि उसकी तरफ़ से आँख बंद कर ली जाए और उसकी उपेक्षा की जाए। वह एक अविभाज्य आत्मा का प्रकट स्वरूप है, आत्मा जो शक्ति, ज्ञान और सौंदर्य का सर्वोच्च उद्‌गम है।" लेखक मार्क्सवाद के आर्थिक पक्ष को स्वीकार करता है, जो काकोरी से पहले के क्रांतिकारियों के मुक़ाबले निश्चय ही एक आगे बढ़ा हुआ क़दम है। लेकिन जहाँ तक मार्क्सवाद के दार्शनिक पक्ष का सवाल है, लेखक भौतिकवाद को न मानकर भगवान और धैर्य पर अडिग रहता है। आगे चलकर सान्याल जी स्वयं लिखते हैं : "कम्युनिस्ट दर्शन में इतिहास के भौतिकवादी विश्लेषण का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। और इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या में वर्ग-संघर्ष की

अवधारणा शुरू से आख़िर तक लगातार मौजूद है...मैं आज भी इन सिद्धांतों को स्वीकार नहीं कर पाया हूँ...।"[26]

एक और महत्त्वपूर्ण मुद्दा जिस पर उनका कम्युनिज़्म से मतभेद था, वह था सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व की अवधारणा। उनका यह मत था कि "सिर्फ़ मध्यम वर्ग के नौजवान ही नेतृत्व प्रदान करने की क्षमता रखते हैं, जबकि मज़दूर और किसान क्रांतिकारी सेना के सिपाही का काम करेंगे।"[27]

शचीन्द्रनाथ सान्याल और उनके समय के अन्य क्रांतिकारियों की सैद्धांतिक मान्यताओं का सत्येंद्र नारायण मजूमदार ने अपनी पुस्तक *इन सर्च ऑफ़ ए रिवोल्यूशनरी आइडियोलोजी एंड रिवोल्यूशनरी प्रोग्राम* में संक्षेप में बड़ा अच्छा खुलासा प्रस्तुत किया है। दोनों दस्तावेज़ों (*क्रांतिकारी* और संविधान) पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा है : "ये दोनों दस्तावेज़ उन क्रांतिकारियों की सोच का प्रतिनिधित्व करते हैं जो उन दिनों साम्यवाद की तरफ़ आकर्षित हो रहे थे।"[28] इसके बाद दोनों दस्तावेज़ों की विशिष्टताओं का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं : "इन दोनों दस्तावेज़ों की विशिष्टताएँ हैं - (क) समाजवाद की विजय-पताका फहराने वाले पहले देश के रूप में बोल्शेविक रूस के प्रति और साम्यवाद के प्रति स्पष्ट झुकाव; (ख) राष्ट्रीय मुक्ति के लिए क्रांति के अंतरराष्ट्रीय चरित्र को समझने की शुरुआत, हालाँकि यह समझ अभी बहुत साफ़ नहीं थी; (ग) स्वतंत्र भारत की सामाजिक तथा आर्थिक व्यवस्था की रूपरेखा तैयार करने की कोशिश; (घ) मज़दूरों और किसानों को संगठित करने के लिए कृत-संकल्प होना; (ङ) पार्टी में जनवादी-केन्द्रीयता के सिद्धांत का प्रवेश।"[29]

दोनों दस्तावेज़ों की कमज़ोरियों को मजूमदार ने इस प्रकार गिनाया है : "(क) साम्यवाद के प्रति झुकाव अवश्य था, लेकिन अभी तक साम्यवाद के अध्ययन का ठोस आधार उसे नहीं मिला था; (ख) राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्ष में मज़दूरों और किसानों की भूमिका के वास्तविक महत्त्व को स्पष्ट रूप से नहीं समझा गया था; (ग) घोषणापत्र का लेखक अभी तक धार्मिक रहस्यवाद के प्रभाव से ग्रस्त है; (घ) घोषणापत्र यह समझने में असफल रहा कि आतंकवाद का मुक़ाबला करने के लिए जवाबी आतंकवादी अभियान का मज़दूरों और किसानों को संगठित करने के कार्य से सामंजस्य बैठाना अव्यावहारिक है; (ङ) राष्ट्रीय स्थिति का ग़लत विश्लेषण देते हुए घोषणापत्र में कहा गया था कि 'हमारे जीवन के हर क्षेत्र में चरम असहायता की भावना विद्यमान है और आतंकवाद

उसमें यथोचित उत्साह पैदा करने का प्रभावकारी साधन' आदि। जबकि उस समय तक भारत की मेहनतकश जनता संघर्ष की राह पर कूच कर चुकी थी। उसका अगुवा दस्ता मज़दूर वर्ग निर्मम पुलिस-दमन के बावजूद लगातार और बहादुरी के साथ शानदार लड़ाइयाँ लड़ रहा था।"[30]

बंगाल में भी उसी दिशा में विकास हो रहा था। वहाँ अनुशीलन और युगांतर के कई नेताओं ने सोवियत रूस तथा कम्युनिज़्म में दिलचस्पी लेनी शुरू कर दी थी। लेकिन यह दिलचस्पी साम्यवाद के अध्ययन पर या अक्टूबर क्रांति और उसकी विशिष्टता की ठीक समझ पर आधारित नहीं थी। वे सोवियत यूनियन और कोमिंटर्न को "हथियार तथा अन्य प्रकार की सहायता, मसलन बम बनाने की शिक्षा आदि, प्राप्त करने के एक संभावित स्रोत के रूप में देखते थे। लेकिन जब उन्हें पता चला कि सोवियत यूनियन और कम्युनिस्ट इंटरनेशलन दोनों ही जनता से अलग किसी प्रकार की सशस्त्र गतिविधियों को प्रोत्साहन नहीं देते हैं तो उनकी दिलचस्पी ठंडी पड़ गई।"[31]

उस समय, अर्थात तीसरे दशक के उत्तरार्द्ध में भारतवर्ष में कम्युनिस्ट विचारधारा जनप्रिय हो रही थी। अक्टूबर क्रांति और रूस के ख़िलाफ़ साम्राज्यवादी हस्तक्षेप की पराजय के अलावा इस बदलाव के कुछ अन्य कारण भी थे। जैसे : (क) पेशावर और कानपुर के बोल्शेविक षड्यंत्र केस; (ख) देश के कई भागों में किसानों के जुझारू संघर्ष; (ग) मज़दूरों की देशव्यापी बड़ी-बड़ी हड़तालें (घ) मज़दूर-किसान पार्टी का गठन; (ङ) देश के विभिन्न कम्युनिस्ट ग्रुपों को मिलाकर एक अखिल भारतीय पार्टी के गठन का प्रयास। राष्ट्रीय तथा अंतरराष्ट्रीय पैमाने पर घटित इन घटनाओं से प्रभावित होकर अनुशीलन के कुछ कार्यकर्ता पार्टी से अलग होकर कम्युनिस्ट आंदोलन में चले गए। अनुशीलन में उनका अच्छा सम्मान था और क्रांतिकारी युवकों में साम्यवाद को जनप्रिय बनाने में उन लोगों की काफ़ी हद तक महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

हिंदुस्तान समाजवादी प्रजातंत्र संघ का गठन

संयुक्त प्रांत (अब उत्तर प्रदेश) में 1925 में क्रांतिकारी पार्टी के प्राय: सभी प्रमुख नेता काकोरी षड्यंत्र केस के सिलसिले में पकड़कर जेल में बंद कर दिए गए थे। इससे हिंदुस्तान प्रजातंत्र संघ के संगठन को बहुत बड़ा धक्का लगा।

केवल चन्द्रशेखर आज़ाद और कुंदनलाल गुप्त ही पुलिस के चंगुल से बचकर निकल पाए थे। इनके अतिरिक्त बाहर जो साथी रह गए थे वे सब दूसरी पंक्ति के सिपाही थे। पार्टी को फिर से संगठित करने का दायित्व इन्हीं दूसरी पंक्ति के साथियों पर पड़ा। उस समय अर्थात 1925 में कुछ क्रांतिकारी लाहौर में सक्रिय थे और कुछ कानपुर में फिर से काम आरंभ करने का प्रयास कर रहे थे। सैद्धांतिक दृष्टिकोण से उस समय तक इन दोनों केन्द्रों के साथियों के दिमाग़ साफ़ नहीं थे। हाँ, एक सही सिद्धांत की तलाश अवश्य आरंभ हो गई थी। इस दिशा में दोनों केन्द्रों के साथियों को योग्य मार्गदर्शक भी मिल गए थे।

इस समय (1925-26) लाहौर के साथी, ख़ासकर भगतसिंह और सुखदेव, रूसी अराजकतावादी बाकुनिन से प्रभावित थे। भगतसिंह को अराजकतावाद से समाजवाद की ओर लाने का श्रेय दो व्यक्तियों को है - कामरेड सोहन सिंह जोश जो अब हमारे बीच में नहीं हैं और लाला छबीलदास। जोश एक मशहूर कम्युनिस्ट नेता और *किरती* नाम की पंजाबी मासिक पत्रिका के संपादक थे। वे भगतसिंह से विभिन्न विषयों पर बातचीत करते और उन्हें *किरती* में लिखने के लिए प्रोत्साहित करते थे। लाला छबीलदास 'तिलक स्कूल ऑफ़ पोलिटिक्स', जो नेशनल कॉलेज के नाम से भी प्रसिद्ध था, के प्रधानाचार्य थे। वे नौजवान क्रांतिकारियों को बतलाते रहते थे कि क्या पढ़ें और कैसे पढ़ें। भगवतीचरण वोहरा का समाजवाद की तरफ़ आरंभ से ही रुझान था। सोहन सिंह जोश का सारा मार्ग-दर्शन और लाला छबीलदास के किताबों के बारे में सारे सुझाव पुस्तकों के अभाव में व्यर्थ ही रह जाते। इस आवश्यकता को कुछ हद तक पूरा किया लाला लाजपत राय की 'द्वारकादास लाइब्रेरी' ने। इस पुस्तकालय में राजनीति-संबंधी पुस्तकों का अच्छा संग्रह था जिनमें मार्क्सवादी और सोवियत रूस पर ऐसी पुस्तकें भी शामिल थीं जिन्हें सरकार ने ज़ब्त नहीं किया था।

लाहौर के क्रांतिकारियों ने उस पुस्तकालय से पूरा लाभ उठाया। उस काम में उन्हें पुस्तकालय के अध्यक्ष और क्रांतिकारियों के हमदर्द श्री राजाराम शास्त्री (अब स्वर्गीय) से काफ़ी सहायता मिलती थी। पुस्तकें प्राप्त करने का एक और भी सोर्स था रामकृष्ण एंड सन्स नाम की किताबों की एक दूकान। यह दूकान अनारकली बाज़ार में थी और उसके पास इंग्लैंड से ज़ब्तशुदा पुस्तकें मँगवाने की अच्छी व्यवस्था थी। पंजाब के क्रांतिकारियों ने, ख़ासकर भगतसिंह और भगवतीचरण वोहरा ने, इन सुविधाओं से पूरा लाभ उठाया। श्री राजाराम शास्त्री

ने एक बार इन पंक्तियों के लेखक से कहा था कि भगतसिंह वस्तुतः पुस्तकों को पढ़ता नहीं निगलता था, लेकिन फिर भी उसकी ज्ञान की पिपासा सदा अनबुझी ही रहती थी। भगतसिंह पुस्तकों का अध्ययन करता, नोट्स बनाता, अपने साथियों से उन पर विचार-विमर्श करता, अपनी समझ को नए ज्ञान की कसौटी पर आत्मालोचनात्मक ढंग से परखने का प्रयास करता और इस प्रक्रिया में अपनी समझ में जो-जो ग़लतियाँ दिखलाई पड़तीं उन्हें सुधारने की कोशिश करता। इन सब बातों ने पंजाब ग्रुप को तेज़ी के साथ आगे बढ़ने में मदद की। परिणामस्वरूप 1928 के आरंभ में उन्होंने अराजकतावाद को छोड़कर समाजवाद को ध्येय के रूप में स्वीकार कर लिया। इसका यह मतलब नहीं कि उन्होंने मार्क्सवाद को पूरी तरह से समझ लिया था। अतीत के प्रभाव से अभी पूरी तरह छुटकारा नहीं मिल पाया था।

कानपुर के साथी भी ठीक उसी दिशा में आगे बढ़ रहे थे, हालाँकि उनकी आगे बढ़ने की गति में वह तेज़ी नहीं थी जो लाहौर के साथियों में थी। कानपुर में राधामोहन गोकुलजी, सत्यभक्त और मौलाना हसरत मोहानी अपने को कम्युनिस्ट कहते थे। इनमें से राधामोहन जी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनके पास पुस्तकों का अच्छा संग्रह था। अध्ययनशील व्यक्ति होने के साथ ही वे एक सशक्त लेखक भी थे। 1927 में उन्होंने एक पुस्तक लिखी थी - *कम्युनिज़्म क्या है?* सरल और सीधी-सादी भाषा में इस पुस्तक के माध्यम से उन्होंने हिंदी के पाठकों के सामने कम्युनिस्ट सिद्धांत के प्रमुख मुद्दों को प्रस्तुत किया था। इन पंक्तियों के लेखक को भी कम्युनिज़्म का पहला सबक राधामोहन जी से ही मिला था। राधामोहन जी कट्टर नास्तिक थे। ईश्वर, धर्म, अंधविश्वास आदि पर उन्होंने पत्र-पत्रिकाओं में काफ़ी कुछ लिखा था। उनका यह रूप देखकर हिंदी के उपन्यास-सम्राट प्रेमचंद ने उन्हें 'आधुनिक चार्वाक' कहकर पुकारा था।

सत्यभक्त का कम्युनिज़्म अध्यात्मवादी रंग का था और मौलाना हसरत मोहानी के विचार कम्युनिज़्म और इस्लाम की खिचड़ी कहे जा सकते हैं। इन कमज़ोरियों के बावजूद सोवियत रूस और साम्यवाद को हिंदी भाषा-भाषी जनता के बीच जनप्रिय बनाने में इन तीनों की भूमिका से इन्कार नहीं किया जा सकता। कानपुर के युवा क्रांतिकारियों ने समाजवाद की प्रथम दीक्षा इन्हीं महानुभावों से प्राप्त की थी। शौक़त उस्मानी भी विजयकुमार सिन्हा के माध्यम से कानपुर ग्रुप के संपर्क

में थे, लेकिन हम लोगों को उनसे किसी प्रकार का सैद्धांतिक मार्गदर्शन नहीं मिल सका था। श्री गणेशशंकर विद्यार्थी से भी, जो कानपुर की बहुत बड़ी मशहूर हस्ती थे, क्रांतिकारियों को हर तरह की सहायता मिलती रहती थी। वे राजनीतिक अध्ययन और जनता के बीच काम पर विशेष रूप से बल देते थे।

इस सबके परिणामस्वरूप कानपुर के साथियों का झुकाव भी समाजवाद की तरफ़ हो गया था। लेकिन यह झुकाव बुद्धिसंगत होने के बजाय भावात्मक अधिक था। उस समय तक कानपुर ग्रुप चन्द्रशेखर आज़ाद और कुंदनलाल गुप्त से संपर्क स्थापित कर चुका था। ये दोनों साथी काकोरी षड्यंत्र केस में फ़रार घोषित किए जा चुके थे।

यह थी पृष्ठभूमि, जब 1928 के आरंभ में भगतसिंह ने विभिन्न दलों को मिलाकर क्रांतिकारियों का एक अखिल भारतीय संगठन बनाने का विचार अपने साथियों के सामने रखा। उनके प्रस्ताव इस प्रकार थे : (क) समय आ गया है कि हम समाजवाद को साहस के साथ अपना अंतिम लक्ष्य घोषित करें; (ख) पार्टी का नाम तदनुसार बदला जाना चाहिए ताकि लोग जान सकें कि हमारा अंतिम लक्ष्य क्या है; (ग) हमें सिर्फ़ उन्हीं कामों को हाथ में लेना चाहिए जिनका सीधा संबंध जनता की ज़रूरतों और भावनाओं से हो सकता है, और हमें मामूली पुलिस अधिकारियों अथवा भेदियों को मारने में अपनी शक्ति और समय का अपव्यय नहीं करना चाहिए; (घ) धन के लिए हमें सरकारी ख़ज़ाने पर ही हाथ डालना चाहिए और यथासंभव निजी घरों पर कार्रवाई नहीं करनी चाहिए; और (ङ) सामूहिक नेतृत्व के सिद्धांत का कड़ाई से पालन करना चाहिए।

भगतसिंह ने इन सब मुद्दों पर लाहौर और कानपुर के अपने साथियों के साथ विचार-विमर्श किया और चन्द्रशेखर आज़ाद तथा कुंदनलाल की सहमति भी ले ली। इसके बाद यह तय किया गया कि विभिन्न प्रांतों के प्रतिनिधियों की एक बैठक 8 और 9 सितंबर, 1928 को दिल्ली में आयोजित की जाए। पाँच प्रांतों के प्रतिनिधियों को इसके लिए आमंत्रित किया गया, लेकिन इनमें से चार प्रांतों ने ही अपनी स्वीकृति दी। बंगाल को मीटिंग में भाग लेने के लिए हम राज़ी नहीं कर पाए।

इस संबंध में एस.एन. मजूमदार ने लिखा है कि "हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन के बंगाल के प्रतिनिधियों ने मीटिंग में भाग नहीं लिया क्योंकि ऐसा कहा जाता है कि वे आतंकवाद तथा हिंसा के ख़िलाफ़ थे।" यह सही नहीं है।

पार्टी की ओर से स्वयं मुझे ही अगस्त 1928 के अंतिम सप्ताह में कलकत्ता भेजा गया था ताकि बंगाल के साथियों के साथ प्रस्तावों पर बातचीत करके उन्हें दिल्ली मीटिंग में आने के लिए आमंत्रित किया जा सके। संपर्क मिला था वाराणसी के एक तारापद भट्टाचार्य से। कलकत्ते में मेरा परिचय जिन सज्जन से कराया गया उनके बारे में कहा गया कि वे अभी-अभी जेल से छूटकर आए हैं। देखने से वे बुज़ुर्ग लगते थे, उनका शरीर मोटा और थुलथुला था और उनका व्यवहार बड़ा ही अरुचिकर था। उनकी बातचीत और हाव-भाव से मुझे यह समझने में देरी नहीं लगी कि मैं जिस व्यक्ति से मिल रहा हूँ, वह तानाशाही प्रवृत्ति वाला एक दंभी एवं बड़ा अहंकारी व्यक्ति है। चार-पाँच नौजवान लड़के जो बराबर वहाँ मौजूद रहे, उन्हें सुशील दा कहकर संबोधित करते थे। मैंने जैसे ही उनके कमरे में प्रवेश किया वैसे ही उन्होंने यू.पी. ग्रुप को काकोरी कांड के लिए डाँटना-फटकारना शुरू कर दिया, "तुम लोगों ने यह काम हम लोगों से पूछे बग़ैर क्यों किया? और अब सारा संगठन चौपट कर देने के बाद हमसे सहायता माँगने आने से क्या फ़ायदा?" मैंने उनसे कहा कि मैं आपसे कोई सहायता माँगने नहीं आया हूँ बल्कि कुछ मुद्दों पर बातचीत करने और आपको दिल्ली मीटिंग के लिए आमंत्रित करने आया हूँ। इसके बाद मैंने एक-एक करके सभी प्रस्तावों के बारे में उन्हें बतलाया और उनसे दिल्ली मीटिंग में भाग लेने का अनुरोध किया। उन्होंने कहा कि वे अपनी शर्तों पर ही मीटिंग में भाग ले सकेंगे और मुझसे यह आश्वासन माँगा कि उनकी शर्तें मान ली जाएँगी। उनकी शर्तें इस प्रकार थीं : (क) कि हम लोग समाजवाद या कम्युनिज़्म से कोई सरोकार नहीं रखेंगे; (ख) कि पार्टी का नाम नहीं बदला जाएगा; (ग) कि हमें सरकार से सीधे भिड़ा देने वाले काकोरी जैसे काम भविष्य में हमसे पूछे बग़ैर नहीं किए जाएँगे; (घ) कि केन्द्रीय कमेटी जैसी कोई चीज़ नहीं होगी और हम लोगों को केवल उन्हीं के माध्यम से बंगाल के मातहत रहकर काम करना होगा; (ङ) कि हम लोगों को अपनी गतिविधियाँ सिर्फ़ संगठन बनाने, हथियार और पैसा जमा करने तक ही सीमित रखनी होंगी; (च) कि पैसे के लिए सिर्फ़ अराजनीतिक कामों की ही इजाज़त होगी। मैंने उन्हें इस बात पर राज़ी करने की कोशिश की कि वे बग़ैर किसी प्रकार की शर्तें लगाए खुले दिल से मीटिंग में आएँ और सभी बातों पर बहस में हिस्सा लें। उन्होंने मेरी बात मानने से साफ़ इन्कार कर दिया। चूँकि उनकी सभी शर्तें हमारे प्रस्तावों से बिल्कुल भिन्न थीं इसलिए मैंने विनम्रतापूर्वक उनकी शर्तें मानने से इन्कार कर

दिया। इन कारणों से दिल्ली मीटिंग बंगाल के साथियों की अनुपस्थिति में ही करनी पड़ी।

दिल्ली मीटिंग और उसके बाद

आठ सितंबर, 1928 को मीटिंग में भाग लेने के लिए चार प्रांतों का प्रतिनिधित्व करने वाले कुल मिलाकर दस साथी कोटला फ़िरोज़शाह में जमा हुए थे। इनमें दो बिहार से, दो पंजाब से, एक राजस्थान से और पाँच संयुक्त प्रांत (अब उत्तर प्रदेश) से थे। यू.पी. के पाँच साथियों में से भी दो ने मीटिंग में बैठने से इन्कार कर दिया क्योंकि बाक़ी साथियों ने उनकी कुछ शर्तें नहीं मानीं। इस प्रकार केवल आठ साथियों ने ही बातचीत में भाग लिया। आज़ाद को सुरक्षा की दृष्टि से दिल्ली नहीं लाया गया था। लेकिन उनसे सभी मुद्दों पर पूर्वस्वीकृति प्राप्त कर ली गई थी। मीटिंग में दो दिन की बहस के बाद भगतसिंह द्वारा रखे गए सभी प्रस्तावों को दो के ख़िलाफ़ छह के बहुमत से स्वीकार कर लिया गया। फणीन्द्रनाथ घोष और मनमोहन बनर्जी (दोनों बिहार से) ने समाजवाद को पार्टी के अंतिम लक्ष्य के रूप में अपनाए जाने और पार्टी का नाम बदलने के प्रस्ताव का विरोध किया। आगे चलकर जब दिसंबर 1928 में भगतसिंह कलकत्ता गए और त्रैलोक्य चक्रवर्ती तथा प्रतुल गांगुली, जो उस समय तक जेल से छूटकर बाहर आ चुके थे, से मिले तो उन्होंने बताया कि दिल्ली मीटिंग के लिए बंगाल को आमंत्रित करने जो साथी पहले आए थे, उनको दुर्भाग्यवश एक ग़लत आदमी से मिला दिया गया था। भगतसिंह ने दोनों नेताओं को दिल्ली के फ़ैसलों से अवगत कराया और सभी मुद्दों पर उनकी सहमति भी प्राप्त कर ली। वे हममें से कुछ साथियों को बम बनाने का प्रशिक्षण देने के लिए यतीन्द्रनाथ दास को आगरा भेजने के लिए भी सहमत हो गए।

1928 के आते-आते हम लोगों ने समाजवाद को सिद्धांत के रूप में स्वीकार कर लिया था, लेकिन अमल में हम पर अतीत का साया अब भी हावी था। फिर भी यह कहना ग़लत होगा कि सांडर्स वध और केन्द्रीय असेंबली में बम फेंकने के पीछे भगतसिंह की किसी प्रकार की मानसिक कुण्ठा या निराशा काम कर रही थी, जैसाकि एस.एन. मजूमदार ने साबित करने की कोशिश की है। वे लिखते हैं : "त्रैलोक्य चक्रवर्ती ने उन्हें (भगतसिंह को) पाँच हज़ार की एक युवा वालंटियर वाहिनी संगठित करने की सलाह दी, जैसीकि कांग्रेस के

कलकत्ता अधिवेशन के समय (दिसंबर 1928) संगठित की गई थी। चक्रवर्ती ने आगे लिखा है कि भगतसिंह ने उनकी सलाह पर अमल करने की कोशिश की लेकिन असफल रहा। इसने उसके दिमाग़ में कुण्ठा और निराशा को जन्म दिया और कुछ सनसनीख़ेज़ काम की अनिवार्य आवश्यकता के बारे में उसके विश्वास को और पक्का कर दिया। शीघ्र ही उसके बाद असेंबली में बम फेंकने की घटना हुई।"[32]

यह सारी कहानी तथ्यों से मेल नहीं खाती है। पहली बात तो यह कि भगतसिंह ने कभी कोई बड़ा राजनीतिक क़दम पार्टी की केन्द्रीय कमेटी को विश्वास में लिए बग़ैर नहीं उठाया। पाँच हज़ार नौजवानों की एक वालंटियर सेना गठित करने का प्रश्न कभी भी केन्द्रीय समिति के सामने बहस के लिए नहीं आया। दूसरी बात यह कि इस प्रकार की किसी वालंटियर सेना का विचार हवा में पुल बाँधने जैसा विचार था। चार-पाँच दिनों के लिए थैलियों के सहारे खुलेतौर पर पाँच हज़ार की वालंटियर सेना (कांग्रेस द्वारा - स.) खड़ी कर लेना एक बात थी, लेकिन गुप्त क्रांतिकारी काम के लिए राजनीतिक तौर पर सजग, प्रशिक्षित और अनुशासित नौजवानों की इतनी बड़ी सेना कुछ महीनों में खड़ी कर लेना संभव भी नहीं था। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि भगतसिंह कलकत्ते से जनवरी 1929 के पहले सप्ताह में वापस आए। फ़रवरी में जब यतीन्द्रनाथ दास आगरा आए तो हममें से हर कोई किसी न किसी रूप में बम फ़ैक्टरी स्थापित करने के काम में व्यस्त हो गया था। फिर मेरठ की गिरफ़्तारियों से पहले फ़रवरी के अंत में आगरा में ही असेंबली में बम फेंकने का फ़ैसला लिया गया। ऐसी स्थिति में भगतसिंह का त्रैलोक्य बाबू की सलाह पर अमल करने का प्रयास करना, विफल होना, निराशा और पस्ती का शिकार होना आदि का प्रश्न नहीं उठता था। इस प्रकार की असफलता, निराशा, कुण्ठा आदि की मनगढ़ंत बातों से असेंबली में बम फेंकने के काम का राजनीतिक महत्त्व ही समाप्त हो जाता है और वह एक व्यक्ति की कुण्ठा और निराशा का परिणाम-मात्र रह जाता है।

ऐसी ही हानिकारक और असेंबली में बम फेंकने के महत्त्व को कम करने वाली कहानी मन्मथनाथ गुप्त ने दी है। सुखदेव राज (शहीद सुखदेव नहीं - स.), जो 1928 और '29 के पूर्वार्द्ध में कहीं भी तस्वीर में नहीं था, द्वारा प्रसारित एक सौ फ़ीसदी मनगढ़ंत कहानी को आधार बनाकर गुप्त जी ने कहा है कि पार्टी

असेंबली में बम फेंकने के लिए सुखदेव तथा बटुकेश्वर दत्त को भेजने के पक्ष में थी। लेकिन भगतसिंह के प्रति व्यक्तिगत ईर्ष्या के कारण उसने भगतसिंह को बी. के. दत्त के साथ जाने के लिए मजबूर कर दिया। चन्द्रशेखर आज़ाद और दूसरे लोग निकल आने के पक्ष में थे। लेकिन भगतसिंह इसके लिए राज़ी नहीं हुए। उनका तर्क था कि जनता को जगाने के लिए उच्चतम बलिदान की आवश्यकता है।[33]

यहाँ पर यह कहना ही ग़लत है कि असेंबली में बम फेंकने के लिए सुखदेव को चुना गया था। आगरे में केन्द्रीय कमेटी की पहले दिन की मीटिंग में जो दो नाम तय हुए थे, वे थे बटुकेश्वर दत्त और विजयकुमार सिन्हा। इस काम के लिए किसी भी स्तर पर सुखदेव का नाम कमेटी में विचारार्थ नहीं आया। हमारे सामने विचार-विमर्श का मुख्य विषय राजनीति था न कि व्यक्तिगत ईर्ष्या या वैरभाव, जो सौभाग्यवश उस समय हमारे बीच में नहीं था। इसमें संदेह नहीं कि असेंबली में बम फेंकने के लिए विजयकुमार सिन्हा के स्थान पर भगतसिंह को भेजने के लिए सुखदेव पूरी तरह उत्तरदायी था। उसने यह इसलिए किया क्योंकि वह ईमानदारी के साथ विश्वास करता था कि भगतसिंह के अलावा और किसी के जाने से काम का राजनीतिक उद्देश्य पूरा नहीं होगा। जहाँ तक उच्चतम बलिदान का सवाल है, क्रांतिकारी आंदोलन में बलिदान की कमी नहीं रही (और हर बलिदान उच्चतम होता है)। ऐसा नहीं था कि भगतसिंह एक निराश एवं विफल मनोरथ नौजवान था, जिसने असेंबली में बम फेंककर आत्महत्या करने का एक आसान रास्ता निकाल लिया था।

असेंबली में बम फेंकने का फ़ैसला कैसे और कब लिया गया?

राष्ट्रीय मुक्ति-संघर्ष के इतिहास में तीसरे दशक के अंतिम वर्ष, ख़ासकर 1928-30 के वर्ष, बड़े ही महत्त्वपूर्ण थे। यही समय था जब वामपंथी शक्तियों ने संगठित रूप से एवं दृढ़तापूर्वक बोलना आरंभ कर दिया था। सर्वहारा वर्ग की बड़ी-बड़ी जुझारू हड़तालों ने देशव्यापी रूप धारण कर लिया था। मज़दूरों की संगठित ट्रेड यूनियन गतिविधियाँ बढ़ती जा रही थीं, जिसके फलस्वरूप मज़दूर काम के हालात में सुधार और मज़दूरी में बढ़ोत्तरी के लिए और अधिक मुस्तैदी के साथ संघर्ष करने की स्थिति में आ गए थे। मज़दूरों, नौजवानों और विद्यार्थियों

में कम्युनिस्टों का प्रभाव तेज़ी के साथ बढ़ रहा था : देश में पहली बार बाएँ बाज़ू का राजनीतिक आंदोलन सर उठा रहा था। उस समय की युवा पीढ़ी की सोच की दिशा का वर्णन करते हुए जवाहरलाल नेहरू ने लिखा है, "बुद्धिजीवियों, यहाँ तक कि सरकारी अफ़सरों में भी साम्यवाद और समाजवाद के अस्पष्ट विचार फैल चुके थे। कांग्रेस के नौजवान पुरुष और महिलाएँ, जो पहले 'ब्राइस ऑन डेमोक्रेसी', मार्ले और कीथ और मैज़िनी को पढ़ा करते थे, अब जब भी उन्हें उपलब्ध होतीं तो समाजवाद, कम्युनिज़्म और रूस पर किताबें पढ़ते थे : इन नए विचारों की तरफ़ लोगों का रुझान पैदा करने में मेरठ षड्यंत्र केस ने काफ़ी सहायता पहुँचाई थी। विश्व-आर्थिक संकट ने भी लोगों को इस तरफ़ ध्यान देने के लिए मजबूर कर दिया था। चारों तरफ़ जिज्ञासा की एक नई भावना स्पष्ट दिखलाई पड़ रही थी - मौजूदा संस्थाओं के प्रति एक प्रश्नवाचक और चुनौती भरी जिज्ञासा। उस मानसिक तूफ़ान का आम रुख स्पष्ट था। लेकिन वह अभी एक हलकी बयार थी - स्वयं अपने से अनभिज्ञ।"[34]

अंग्रेज़ साम्राज्यवादियों को इस सबसे चिंता हुई और उन्होंने आंदोलन को प्रारंभ में ही कुचल देने का फ़ैसला किया। अधिकारी कितने घबराए हुए थे और सरकार का दिमाग़ किस तरह काम कर रहा था, यह देखने के लिए एक मिसाल ही पर्याप्त होगी। गुप्तचर ब्यूरो के निदेशक सर डेविड पैट्रिक ने 'भारत में कम्युनिज़्म' पर अपनी रिपोर्ट में, जिसे उन्होंने 1929 में तैयार किया था, 'बोल्शेविक अभिशाप' के स्वरूप का नीचे लिखे शब्दों में वर्णन किया है : "सन् 1920 में तीसरी इंटरनेशनल ने अपनी दूसरी कांग्रेस में जो थीसिस पास की थी उसमें सर सेसिल केए ने भारत के ख़िलाफ़ एक सुनिश्चित षड्यंत्र के कीटाणुओं को ठीक ही पहचाना था। उस थीसिस में कहा गया था, 'उपनिवेशिक और अर्द्ध-उपनिवेशिक देशों का राष्ट्रीय आंदोलन वस्तुगत दृष्टिकोण से और बुनियादी तौर पर क्रांतिकारी संघर्ष है, और इसलिए वह विश्व-क्रांतिकारी संघर्ष का हिस्सा है।' इसमें कोई संदेह नहीं हो सकता कि ग्रेट ब्रिटेन ने बोल्शेविक हमले का मुख्य प्रहार अपने ऊपर लिया है...क्योंकि वह विश्व-क्रांति, जिसे बोल्शेविक लोग अपनी अंतिम सफलता के लिए ज़रूरी शर्त मानते हैं, के ख़िलाफ़ मुख्य क़िलों में से एक है। बोल्शेविकों का यह विश्वास है कि ब्रिटिश साम्राज्य में भारत सबसे कमज़ोर बिंदु है। और वे इसे धार्मिक विश्वास के रूप में दिल में सँजोए हुए हैं कि जब तक भारत आज़ाद नहीं हो जाता तब तक रूस इंग्लैंड के अभिशाप से

मुक्त नहीं हो सकेगा।"[35]

जे. क्रेरर ने, जो उस समय भारत सरकार के होम मेंबर थे, कहा था कि एक व्यवस्थित समाज के लिए कम्युनिज़्म के सिद्धांत और अमल से अधिक विध्वंसक और कोई चीज़ नहीं हो सकती।[36]

कम्युनिज़्म, बाएँ बाज़ू की शक्तियों और श्रमिक वर्ग के आंदोलन को कुचलने के लिए सरकार ने केन्द्रीय असेंबली में दो बिल पेश करने का फ़ैसला किया – पब्लिक सेफ़्टी बिल और ट्रेड डिस्प्यूट्स बिल। पहला बिल उन लोगों के ख़िलाफ़ था जो ब्रिटिश-भारत या किसी भारतीय रजवाड़े के निवासी नहीं थे। पहले बिल में गवर्नर जनरल को यह अधिकार दिया गया था कि वह अंग्रेज़ या अन्य विदेशी कम्युनिस्ट को भारत से निकाल दें। दूसरे बिल का उद्देश्य मज़दूरों के ट्रेड यूनियन अधिकारों की कटौती करना था।

असेंबली में पूरे विरोध पक्ष ने, जनता ने और प्रेस ने दोनों बिलों का जमकर विरोध किया। इस चौमुखी विरोध को नज़रअंदाज़ करते हुए सरकार ने 6 सितंबर, 1928 को पब्लिक सेफ़्टी बिल असेंबली में पेश किया। 24 सितंबर को सदन ने उसे नामंज़ूर कर दिया। जनवरी 1929 में कुछ फेर-बदल के साथ सरकार ने उसे फिर असेंबली के सामने रखा।[37]

जिस समय समाचारपत्रों में यह ख़बर छपी कि सरकार ने बिल को असेंबली में फिर से पेश करने का फ़ैसला कर लिया है उस समय भगतसिंह आगरे में था। समाचार पर उसकी जो प्रतिक्रिया हुई वह बड़ी तीखी थी। उसने कहा कि सरकार के इस मनमानेपन के ख़िलाफ़ प्रतिवाद के रूप में कुछ न कुछ ज़रूर करना चाहिए। वह लाहौर गया, सुखदेव के साथ अपने प्रस्तावों पर बात की, वापस आया, केन्द्रीय कमेटी की बैठक बुलाई और उसके सामने अपने प्रस्ताव रखे। संक्षेप में उसके प्रस्ताव इस प्रकार थे : (1) पार्टी को असेंबली में बम फेंककर सरकार के इस सख़्त एवं हठी रवैए का विरोध करना चहिए; (2) इस काम को करने के लिए जो साथी तैनात किए जाएँ वे काम के बाद भागने की कोशिश करने के बजाय वहीं आत्मसमर्पण कर दें और केस के दौरान अदालत को पार्टी के उद्देश्यों के प्रचार के लिए मंच के तौर पर इस्तेमाल करें; और (3) इस फ़ैसले को कार्यान्वित करने के लिए एक और साथी के साथ उसे स्वयं जाने की अनुमति दी जाए। भगतसिंह के पहले दो सुझावों का केन्द्रीय कमेटी के सभी सदस्यों ने स्वागत किया। लेकिन उसका तीसरा सुझाव किसी ने भी नहीं माना। यह मीटिंग

आगरे में हुई थी और पहले दिन सुखदेव उसमें उपस्थित नहीं था। वह दूसरे दिन आया। सुखदेव के आ जाने पर भगतसिंह को बल मिला और काफ़ी बहस के बाद अंत में कमेटी ने भगतसिंह का तीसरा प्रस्ताव भी मान लिया।

दूसरा बिल (ट्रेड डिस्प्यूट बिल) असेंबली में 4 सितंबर, 1928 को पेश किया गया था। सदन ने उसे सेलेक्ट कमेटी के पास भेज दिया। वहाँ से कुछ फेर-बदल के साथ उसे 2 अप्रैल, 1929 को बहस के लिए असेंबली के सामने फिर लाया गया। सदन ने 8 अप्रैल को 38 के ख़िलाफ़ कुछ वोटों से उसे पास कर दिया। जैसे ही अध्यक्ष महोदय वोटिंग का परिणाम घोषित करने के लिए उठे वैसे ही भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त ने दर्शक दीर्घा से असेंबली भवन में बम फेंके और नारे लगाने के साथ-साथ परचे भी गिराए, जिनमें बम फेंकने के राजनीतिक उद्देश्य को स्पष्ट किया गया था। यह परचा उसी दिन *हिंदुस्तान टाइम्स* के संध्याकालीन परिशिष्ट में प्रकाशित हो गया था। यह हमें क्रांतिकारी आंदोलन के एक छोटे दौर में पहुँचा देता है, जिसका ज़िक्र लोग कभी-कभी आतंकवादी-साम्यवाद या टेरो-कम्युनिज़्म के नाम से करते हैं।

टेरो-कम्युनिज़्म या आतंकवादी-साम्यवाद

लाहौर तथा कानपुर के क्रांतिकारियों ने 1926-27 से ही समाजवाद की ओर बढ़ना शुरू कर दिया था। आठ-नौ सितंबर 1928 की दिल्ली मीटिंग में हालाँकि समाजवाद को सिद्धांत के रूप में और समाजवादी समाज की स्थापना को अंतिम उद्देश्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया था, अमल में हम लोग उसी पुराने व्यक्तिवादी ढंग के कामों में ही लगे रहे। हम मज़दूरों, किसानों, युवकों और मध्यवर्ग के बुद्धिजीवियों को संगठित करने की बात तो करते थे लेकिन पंजाब में नौजवान भारत सभा के गठन को छोड़कर और कहीं भी संजीदगी के साथ उस दिशा में क़दम उठाने की कोशिश नहीं की गई। उस मायने में हमारी वैज्ञानिक समाजवाद अर्थात मार्क्सवाद की समझ अधकचरी थी। मार्क्सवाद अमल को सिद्धांत से अलग करने की इजाज़त नहीं देता, यह बात हम समझ नहीं पाए थे और यह कि उसमें व्यक्तिगत कामों के लिए कोई स्थान नहीं है। हम हिंसात्मक गतिविधियों को, जिसमें ज़ालिम सरकारी अधिकारियों की हत्या और छुटपुट विद्रोह शामिल थे, मज़दूरों, किसानों, युवकों और विद्यार्थियों के जन-संगठन बनाने के काम में मिलाना चाहते थे। लेकिन अमल में हमारा ज़ोर हिंसात्मक गतिविधियों

और सशस्त्र कामों की तैयारी तक ही सीमित रहा। हमारा विश्वास था कि लोगों को नींद से जगाने के लिए और सरकारी दमन का जवाब देने के लिए यह सब आवश्यक है। कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन के अवसर पर दिसंबर, 1928 में भगतसिंह ने का. सोहन सिंह जोश से कहा था, "हम आपकी पार्टी के कामों से और उसके कार्यक्रम से सौ फ़ीसदी सहमत हैं, लेकिन कभी-कभी ऐसे भी क्षण आते हैं जब जनता में विश्वास की भावना जागृत करने के लिए दुश्मन के प्रहार का सशस्त्र कामों द्वारा तत्काल जवाब देना आवश्यक हो जाता है।"[38] उस समय हमारे दिमाग़ इसी तरह काम कर रहे थे। हमारी समझ में निहित अंतरविरोध का अपना तर्क था। मज़दूरों-किसानों को संगठित करने का हमारा फ़ैसला केवल एक पवित्र इरादा बनकर ही रह गया। हमारी शक्ति का अधिकांश हिस्सा प्रतिशोधात्मक कामों को संगठित करने में ही ज़ाया हुआ।

हमारी ग़लत समझ को ठीक करने का एक प्रयास तीसरे इंटरनेशनल ने किया था। यह प्रयास विदेश में गठित भारत की कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा "राष्ट्रवादियों से अपील" के ज़रिए किया गया था। यह अपील 15 दिसंबर, 1924 के *वैनगार्ड* के परिशिष्ट में प्रकाशित हुई थी। अपील में क्रांतिकारियों के बारे में कहा गया था :

"गुप्त सभाओं द्वारा किए जाने वाले छुटपुट आतंकवादी काम भी कुछ कम प्रभावहीन नहीं हैं। इस प्रकार के व्यर्थ उग्रवाद को अपनाने वालों की क्रांति की समझ भी उतनी ही ग़लत है। समाज की मौजूदा स्थिति में ऐसी उम्मीद नहीं की जा सकती है कि राजनीतिक और सामाजिक क्रांतियाँ अहिंसात्मक होंगी या उनमें रक्तपात नहीं होगा। लेकिन हर रक्तपात या हिंसात्मक काम को क्रांति नहीं कहा जा सकता। एक ख़ास सामाजिक व्यवस्था को या राजनीतिक संस्था को उसके चंद समर्थकों को मारकर कभी भी समाप्त नहीं किया जा सकता है। और यह तो और भी नामुमकिन है कि थोड़े से सरकारी अफ़सरों को मारकर या ब्रिटिश पार्लियामेंट से बहुत से सुधार पास करवाकर देश की आज़ादी हासिल की जा सके। ये दोनों उपाय समान रूप से प्राणहीन हैं, क्योंकि इनमें से कोई भी बुराई की जड़ पर चोट नहीं करता। दोनों ही राजनीतिक भूल हैं। लेकिन आतंकवादियों को 'क्रांतिकारी अपराधी' कहना निपट मूर्खता है, क्योंकि 'संवैधानिकतावादी' निश्चित रूप से ग़ैर-क्रांतिकारी हैं और निर्णायक घड़ी आते ही वे प्रतिक्रियावादी हो जाएँगे।"[39]

उसी लेख में दूसरी जगह पर क्रांति की सही-सही परिभाषा दे दी गई थी :

"क्रांति क्या है? भारत के राष्ट्रीय हलकों में इसके बारे में एक बड़ी ग़लत धारणा बनी हुई है। आमतौर पर क्रांति को बम, रिवाल्वर और गुप्त संस्थाओं से जोड़ दिया जाता है। भारतीय राजनीतिक शब्दकोष में बहु-प्रचलित वाक्य 'क्रांतिकारी अपराध' क्रांति की इसी ग़लत अवधारणा की उपज है। बहरहाल, क्रांति इस सबसे कहीं अधिक गंभीर समस्या है। क्रांति एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना है, जो प्रस्तुत ऐतिहासिक युग का अंत और उसके स्थान पर एक नए युग का शुभारंभ करती है। चूँकि जाने वाले समाज के प्रतिनिधि या दलाल, आर्थिक वर्ग और राजनीतिक संस्थाएँ, जो उस समाज में प्रचलित हालात से लाभान्वित होते रहे हैं, एक भयानक प्रतिरोध के बग़ैर ऐसा कोई परिवर्तन नहीं होने देंगे जिससे उनके प्रभुत्व का अंत हो जाए और, जैसाकि आमतौर पर होता है, जिसका अंत उनके चौमुखी विनाश में हो जाए। इसीलिए आमतौर पर राजनीतिक हिंसा और सामाजिक उथल-पुथल 'क्रांति' कहलाने वाली ऐतिहासिक घटना के अंग बन जाते हैं।"[40]

सन् 1925 में यंग कम्युनिस्ट इंटरनेशनल ने बंगाल के युवा क्रांतिकारी संगठन के नाम एक अपील शाया की थी। यह यंग कम्युनिस्ट इंटरनेशनल के घोषणापत्र के रूप में थी जो *मासेज़* के जिल्द 1, नंबर 7 में प्रकाशित हुआ था। घोषणापत्र में इस बात को स्वीकार किया गया था कि पूर्व के क्रांतिकारी नौजवान राष्ट्रीय आज़ादी की लड़ाई में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर रहे हैं। जनता के लिए अपना जीवन बलिदान करने वाले 'हीरो-आतंकवादी' के साहस और बहादुरी के प्रति गहरा आदर व्यक्त करते हुए घोषणापत्र ने कहा था कि "एक क्रांतिकारी जो जनता के लिए लड़ रहा है उसे नैतिक अधिकार है कि वह जनता का गला घोंटने वालों और जल्लादों को रास्ते से हटा दे।"[41]

दुर्भाग्यवश इनमें से कोई भी दस्तावेज़ उस समय हमें नहीं मिला और हमें अपने अनुभवों के सहारे ही आगे बढ़ना पड़ा। व्यक्तिगत कामों का दायरा बहुत सीमित है यह समझने में हमें तीन साल लग गए। हम क़दम-ब-क़दम समाजवाद की तरफ़ बढ़ रहे थे। गिरफ़्तारी के बाद जेल में काफ़ी समय मिला, पढ़ने के लिए काफ़ी सामग्री मिली, आपस में बहस करने और अपने अतीत पर संजीदगी से सोचने का काफ़ी मौक़ा मिला और तब कहीं जाकर हम सही नतीजे पर पहुँच पाए।

इसका यह मतलब नहीं कि जिस दौर की समीक्षा की जा रही है उसमें

सकारात्मक कुछ था ही नहीं। उसकी कमज़ोरियों के साथ ही उसके कुछ सकारात्मक और मज़बूत पहलू भी थे। मैं अपनी और अपने साथियों की समझ की ख़ास कमियों पर रोशनी डाल चुका हूँ। संक्षेप में फिर से दोहरा दूँ, पहली बात तो यह कि हमारा कम्युनिज़्म को स्वीकार करना मार्क्सवाद के सही अध्ययन पर आधारित नहीं था। दूसरी कमज़ोरी थी मज़दूरों और किसानों को संगठित करने और जवाबी आतंकवाद के बीच तालमेल बिठलाने की अव्यावहारिकता को न समझ पाना।

इन सारी कमियों और सीमाओं के बावजूद इस थोड़े समय चलने वाले चर्चित दौर के खाते में कुछ बहुत महत्त्वपूर्ण उपलब्धियाँ भी हैं। लाहौर की 'नौजवान भारत सभा का घोषणापत्र' (1928), असेंबली बम केस के दौरान भगतसिंह और बटुकेश्वर दत्त द्वारा अदालत के सामने दिया गया बयान (1929), कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन के समय बाँटा गया 'हिंदुस्तान समाजवादी प्रजातंत्र संघ का घोषणापत्र' (दिसंबर 1929) और 'बम का दर्शन' (जनवरी 1930) उस युग के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि दस्तावेज़ हैं। इन दस्तावेज़ों के आधार पर हम कह सकते हैं कि 'हिंदुस्तान समाजवादी प्रजातंत्र संघ' (हिसप्रस) का पहला आगे बढ़ा हुआ क़दम था मार्क्सवाद को सिद्धांत के रूप में और समाजवाद को अंतिम उद्देश्य के रूप में स्वीकार करना। बंगाल में भी आंदोलन का रुख़ यही था, हालाँकि गति अपेक्षाकृत धीमी थी। जिस समय हिसप्रस ने समाजवाद को डंके की चोट पर अपना अंतिम उद्देश्य घोषित कर दिया था, उस समय बंगाल के लगभग सभी क्रांतिकारी दल और प्रमुख पार्टियाँ इस सवाल पर अनिश्चितता की स्थिति में थे।

समाजवाद को ध्येय के रूप में स्वीकार करने के अलावा इस दौर के क्रांतिकारी मनुष्य द्वारा मनुष्य के और एक राष्ट्र द्वारा दूसरे राष्ट्र के शोषण से मुक्त वर्गहीन समाज के पक्ष में थे। उन्होंने एलान किया कि उनकी लड़ाई सिर्फ़ ब्रिटिश साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ ही नहीं है, बल्कि विश्व साम्राज्यवादी व्यवस्था के ख़िलाफ़ है। उनके दिलों में सोवियत यूनियन के प्रति प्रगाढ़ आदर और अपनापन था। उनका विश्वास था कि क्रांति के बाद जो सरकार बनेगी उसका रूप एक प्रकार की सर्वहारा वर्ग की तानाशाही का होगा। उन्होंने ईश्वर, धर्म और रहस्यवाद से पूरी तरह छुटकारा पा लिया था। वे धर्मनिरपेक्षता में विश्वास करते थे और उनका दृष्टिकोण घोर सांप्रदायिकतावाद विरोधी था।

असेंबली बमकांड के बाद हिंदुस्तान समाजवादी प्रजातंत्र संघ के अधिकांश

साथी गिरफ़्तार कर लिए गए। उन्होंने अपने मुक़दमे की सुनवाई के दौरान अपने दृष्टिकोण को प्रचारित करने, समाजवाद के विचारों को लोकप्रिय बनाने और क्रांतिकारी पार्टी के उद्देश्यों तथा प्रयोजनों को जनता के सामने रखने के लिए अदालत का मंच के रूप में जमकर इस्तेमाल किया।

उनकी यह रणनीति क़ामयाब हुई। इसके बारे में एस.एन. मजूमदार ने लिखा है : "हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन की तमाम ग़लतियों और कमज़ोरियों के बावजूद समूचे राष्ट्रीय आंदोलन में और तरुण क्रांतिकारियों को साम्यवाद की ओर आकर्षित करने में इस पार्टी के योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती है।"[42]

जी.एस. देओल के अनुसार, "क्रांतिकारी आंदोलन का कार्यक्षेत्र चाहे जितना सीमित रहा हो उसने भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की गति को एक दूसरी धारा के माध्यम से और तेज़ किया। बेशक यह कहा जा सकता है कि उनके (भगतसिंह और उनके साथियों के - शि.व.) कार्यकलापों ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के लिए दिसंबर 1929 के लाहौर अधिवेशन में पूर्ण स्वतंत्रता की माँग करने और पूर्ण स्वराज्य का प्रस्ताव पास करने का पथ प्रशस्त किया।"[43]

देओल के अनुसार क्रांतिकारियों के कार्यकलापों और संघर्षों ने देश में अत्यंत विस्फोटक स्थिति पैदा कर दी थी, जिसके कारण कांग्रेस 1930 का असहयोग आंदोलन शुरू करने के लिए मजबूर हो गई थी। "यह आंदोलन भगतसिंह और उनके साथियों के उग्र आंदोलन के विकल्प के रूप में शुरू किया गया था। इस मत की पुष्टि महात्मा गाँधी द्वारा 2 मार्च, 1930 को वायसराय को लिखे गए एक पत्र के इस अंश से होती है : 'हिंसावादी पार्टी अपनी जगह बनाती जा रही है और उसने अपने अस्तित्व का अहसास कराना शुरू कर दिया है।' उन्होंने आगे स्पष्ट किया था कि वे जिस तरह का अहिंसक आंदोलन शुरू करना चाहते हैं, उससे न सिर्फ़ ब्रिटिश हुकूमत की हिंसक शक्ति का बल्कि उभरते हुए हिंसावादी दल की संगठित हिंसक शक्तियों का भी प्रतिरोध किया जा सकेगा।"[44]

वैज्ञानिक समाजवाद की ओर

'हिंदुस्तान समाजवादी प्रजातंत्र संघ' के अधिकांश प्रमुख नेता 1929 के मध्य तक गिरफ़्तार करके जेलों में बंद कर दिए गए थे, जहाँ उन्हें पढ़ने और विचार-विमर्श करने का भरपूर मौक़ा मिला। इससे उनके अंदर जो नई समझ पैदा

हुई थी, उसके आधार पर उन्होंने अपने पूरे अतीत को, ख़ासकर वैयक्तिक कार्यकलापों और शौर्य प्रदर्शन के आदर्श को नए सिरे से जाँचा-परखा और अपनी अब तक की कार्यप्रणाली को छोड़कर समाजवादी क्रांति का रास्ता अपनाने का निश्चय किया। गहन अध्ययन और बोर्स्टल जेल में दूसरे साथियों से लंबे विचार-विमर्श के बाद भगतसिंह इस निर्णय पर पहुँचे कि यहाँ-वहाँ कुछ भेदियों और सरकारी अफ़सरों की वैयक्तिक हत्याओं से लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती है।

भगतसिंह ने 19 अक्टूबर, 1929 को पंजाब स्टूडेंट्स की कांग्रेस के नाम एक संदेश भेजा था जिसमें उन्होंने कहा था – "आज हम नौजवानों को बम और पिस्तौल अपनाने के लिए नहीं कह सकते।...इन्हें औद्योगिक क्षेत्रों की गंदी बस्तियों में और गाँवों के टूटे-फूटे झोंपड़ों में रहने वाले करोड़ों लोगों को जगाना है।"

2 फ़रवरी, 1931 को उन्होंने 'युवा राजनीतिक कार्यकर्ताओं के नाम' एक अपील लिखी थी जिसमें उन्होंने जनसाधारण के बीच काम करने के महत्त्व को बारंबार रेखांकित किया था। उन्होंने कहा था, "गाँवों और कारख़ानों में किसान और मज़दूर ही असली क्रांतिकारी सैनिक हैं।"

इसी अपील में भगतसिंह ने बलपूर्वक इस बात से इन्कार किया था कि वे आतंकवादी हैं। उनका कहना था, "मैंने एक आतंकवादी की तरह काम किया है। लेकिन मैं आतंकवादी नहीं हूँ। मैं तो ऐसा क्रांतिकारी हूँ जिसके पास एक लंबा कार्यक्रम और उसके बारे में सुनिश्चित विचार होते हैं। मैं पूरी ताक़त के साथ बताना चाहता हूँ कि मैं आतंकवादी नहीं हूँ और कभी था भी नहीं, कदाचित उन कुछ दिनों को छोड़कर जब मैं अपने क्रांतिकारी जीवन की शुरुआत कर रहा था। मुझे विश्वास है कि हम ऐसे तरीक़ों से कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते हैं।" उन्होंने नौजवान राजनीतिक कार्यकर्ताओं को सलाह दी कि वे मार्क्स और लेनिन का अध्ययन करें, उनकी शिक्षा को अपना मार्गदर्शक बनाएँ, जनता के बीच जाएँ, मज़दूरों, किसानों और शिक्षित मध्यवर्गीय नौजवानों के बीच काम करें, उन्हें राजनीतिक दृष्टि से शिक्षित करें, उनमें वर्ग-चेतना उत्पन्न करें, उन्हें यूनियनों में संगठित करें, आदि। उन्होंने नवयुवकों से यह भी कहा कि यह सारा काम तब तक संभव नहीं है जब तक जनता की एक अपनी पार्टी न हो। वे किस तरह की पार्टी चाहते थे इसका खुलासा करते हुए उन्होंने लिखा था, "हमें पेशेवर

क्रांतिकारियों की ज़रूरत है – यह शब्द लेनिन को बहुत प्रिय था – पूर्णकालिक कार्यकर्ताओं की, जिनकी क्रांति के सिवा और कोई आकांक्षा न हो, और न जीवन का कोई दूसरा लक्ष्य हो। ऐसे कार्यकर्ता जितनी बड़ी संख्या में एक पार्टी के रूप में संगठित होंगे, उतनी ही तुम्हारी सफलता की संभावनाएँ बढ़ जाएँगी।"

उन्होंने आगे कहा :

"व्यवस्थित ढंग से आगे बढ़ने के लिए आपको जिसकी सबसे अधिक आवश्यकता है, वह है एक पार्टी जिसके पास जिस टाइप के कार्यकर्ताओं का ऊपर ज़िक्र किया जा चुका है वैसे कार्यकर्ता हों – ऐसे कार्यकर्ता जिनके दिमाग़ साफ़ हों और समस्याओं की तीखी पकड़ हो और पहल करने और तुरंत फ़ैसला लेने की क्षमता हो। इस पार्टी का अनुशासन बहुत कठोर होगा और यह ज़रूरी नहीं है कि वह भूमिगत पार्टी हो, बल्कि भूमिगत नहीं होनी चाहिए...पार्टी को अपने काम की शुरुआत अवाम के बीच प्रचार से करनी चाहिए। किसानों और मज़दूरों को संगठित करने और उनकी सक्रिय सहानुभूति प्राप्त करने के लिए यह बहुत ज़रूरी है। इस पार्टी को कम्युनिस्ट पार्टी का नाम दिया जा सकता है।"

यहाँ भगतसिंह खुल्लम-खुल्ला मार्क्सवाद, साम्यवाद और एक साम्यवादी पार्टी की वकालत करते दिखाई देते हैं।

क्रांति की परिभाषा

क्रांति के संबंध में भगतसिंह के विचार बहुत स्पष्ट थे। निचली अदालत में जब उनसे पूछा गया कि क्रांति शब्द से उनका क्या मतलब है, तो उत्तर में उन्होंने कहा था, "क्रांति के लिए ख़ूनी संघर्ष अनिवार्य नहीं है, और न ही उसमें व्यक्तिगत प्रतिहिंसा का कोई स्थान है। वह बम और पिस्तौल की संस्कृति नहीं है। क्रांति से हमारा अभिप्राय यह है कि वर्तमान व्यवस्था, जो खुलेतौर पर अन्याय पर टिकी हुई है, बदलनी चाहिए।" अपनी बात को और भी स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा था, "क्रांति से हमारा अभिप्राय अंततः एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना से है जिसको इस प्रकार के घातक ख़तरों का सामना न करना पड़े और जिसमें सर्वहारा वर्ग की प्रभुसत्ता को मान्यता हो तथा एक विश्वसंघ मानवजाति को पूँजीवाद के बंधन से और साम्राज्यवादी युद्धों से उत्पन्न होने वाली बरबादी और मुसीबतों से बचा सके।"

समाजवाद की दिशा में भगतसिंह की वैचारिक प्रगति की रफ़्तार बहुत तेज़ थी। उन्होंने 1924 से 1928 के बीच विभिन्न विषयों का विस्तृत अध्ययन किया था। लाला लाजपत राय की द्वारकादास लाइब्रेरी के पुस्तकालयाध्यक्ष राजाराम शास्त्री के अनुसार उन दिनों भगतसिंह वस्तुतः "किताबों को निगला करता था।" उनके प्रिय विषय थे रूसी क्रांति, सोवियत संघ, आयरलैंड, फ़्रांस और भारत का क्रांतिकारी आंदोलन, अराजकतावाद और मार्क्सवाद। उन्होंने और उनके साथियों ने 1928 के अंत तक समाजवाद को अपने आंदोलन का अंतिम लक्ष्य घोषित कर दिया था और अपनी पार्टी का नाम भी तदनुसार बदल दिया था। उनकी यह वैचारिक प्रगति उनके फाँसी पर चढ़ने के दिन तक जारी रही।

ईश्वर और धर्म के बारे में

ईश्वर, धर्म तथा रहस्यवाद पर भगतसिंह के विचारों के बारे में कुछ शब्द कहे बग़ैर यह भूमिका अधूरी रह जाएगी। यह इसलिए भी ज़रूरी है कि आज हर तरह के प्रतिक्रियावादी, रूढ़िवादी और सांप्रदायिकतावादी लोग भगतसिंह तथा चन्द्रशेखर आज़ाद के नाम और यश को अपनी निज की राजनीति और विचारधारा के पक्ष में इस्तेमाल करने की कोशिश कर रहे हैं।

अपनेआप को नास्तिक बताते हुए "भगतसिंह ने शुरू के क्रांतिकारियों के तरीक़े और दृष्टिकोण के लिए पूरा सम्मान प्रदर्शित किया है और उनकी धार्मिकता के स्रोतों की पड़ताल की है। वे संकेत करते हैं कि अपने स्वयं के राजनीतिक कार्यों की वैज्ञानिक समझ के अभाव में उन क्रांतिकारियों को अपनी आध्यात्मिकता की रक्षा करने, वैयक्तिक प्रलोभनों के विरुद्ध संघर्ष करने, अवसाद से उबरने, भौतिक सुखों और अपने परिवारों तथा जीवन तक को त्यागने की सामर्थ्य जुटाने के लिए विवेकहीन विश्वासों एवं रहस्यवादिता की आवश्यकता थी। एक व्यक्ति जब निरंतर अपने जीवन को जोखिम में डालने और दूसरे सारे बलिदान करने के लिए तत्पर होता है तो उसे प्रेरणा के गहरे स्रोत की आवश्यकता होती है। शुरू के क्रांतिकारी, आतंकवादियों की यह अनिवार्य आवश्यकता रहस्यवाद और धर्म से पूरी होती थी। लेकिन उन लोगों को ऐसे स्रोतों से प्रेरणा लेने की ज़रूरत नहीं रह गई थी जो अपने कामों की प्रकृति को समझते थे, जो क्रांतिकारी विचारधारा की दिशा में आगे बढ़ चुके थे, जो कृत्रिम आध्यात्मिकता की बैसाखी लगाए बिना अन्याय के विरुद्ध संघर्ष कर

सकते थे, जो स्वर्ग और मोक्ष के प्रलोभन और आश्वासन के बिना ही विश्वास के साथ और निर्भीक भाव से फाँसी के तख़्ते पर चढ़ सकते थे, जो दलितों की मुक्ति और स्वतंत्रता के पक्ष में इसलिए लड़े क्योंकि लड़ने के अलावा और कोई रास्ता ही न था।"[46]

असेंबली बमकांड के केस की अपील के दौरान लाहौर हाईकोर्ट में बयान देते हुए भगतसिंह ने विचारों की महत्ता पर बल देते हुए कहा था : "इंक़लाब की तलवार विचारों की सान पर तेज़ की जाती है," और उसके आधार पर उन्होंने यह सूत्र प्रस्तुत किया कि "आलोचना और स्वतंत्र विचार किसी क्रांतिकारी के दो अपरिहार्य गुण हैं," और यह कि "जो आदमी प्रगति के लिए संघर्ष करता है उसे पुराने विश्वासों की एक-एक बात की आलोचना करनी होगी, उस पर अविश्वास करना होगा और उसे चुनौती देनी होगी। इस प्रचलित विश्वास के एक-एक कोने में झाँककर उसे विवेकपूर्वक समझना होगा।" उन्होंने दृढ़ता के साथ कहा था कि "निरा विश्वास और अंधविश्वास ख़तरनाक है, इससे मस्तिष्क कुण्ठित होता है और आदमी प्रतिक्रियावादी हो जाता है।"

भगतसिंह स्वीकार करते थे कि "ईश्वर में कमज़ोर आदमी को ज़बरदस्त आश्वासन और सहारा मिलता है और विश्वास उसकी कठिनाइयों को आसान ही नहीं बल्कि सुखकर भी बना देता है।" वे यह भी जानते थे कि "आँधी और तूफ़ान में अपने पाँवों पर खड़े रहना कोई बच्चों का खेल नहीं है।" लेकिन वे सहारे के लिए किसी भी बनावटी अंग के विचार को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार करते थे। वे कहते थे, "अपनी नियति का सामना करने के लिए मुझे किसी नशे की ज़रूरत नहीं है।" उन्होंने एलान किया था कि "जो आदमी अपने पाँवों पर खड़े होने की कोशिश करता है और यथार्थवादी हो जाता है, उसे धार्मिक विश्वास को एक तरफ़ रखकर, जिन-जिन मुसीबतों और दुखों में परिस्थितियों ने उसे डाल दिया है, उनका एक मर्द की तरह बहादुरी के साथ सामना करना होगा।"

ईश्वर, धार्मिक विश्वास और धर्म को यह तिलांजलि भगतसिंह के लिए न तो आकस्मिक थी और न ही उनके अभिमान या अहं का परिणाम थी। उन्होंने बहुत पहले 1926 में ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार कर दिया था। उन्हीं के शब्दों में, "1926 के अंत तक मुझे इस बात पर यक़ीन हो गया था कि सृष्टि का निर्माण, व्यवस्थापन और नियंत्रण करने वाली किसी सर्वशक्तिमान परम सत्ता के अस्तित्व का सिद्धांत एकदम निराधार है।"

भावना कभी नहीं मरती

वह जुलाई, 1930 का अंतिम रविवार था। भगतसिंह लाहौर सेंट्रल जेल से हमें मिलने के लिए बोर्स्टल जेल आए थे। वे इस तर्क पर सरकार से यह सुविधा हासिल करने में क़ामयाब हो गए थे कि उन्हें दूसरे अभियुक्तों के साथ बचाव के तरीक़ों पर बातचीत करनी है। तो उस दिन हम किसी राजनीतिक विषय पर बहस कर रहे थे कि बातों का रुख़ फ़ैसले की तरफ़ मुड़ गया, जिसका हम सबको बेसब्री से इंतज़ार था। मज़ाक़-मज़ाक़ में हम एक-दूसरे के ख़िलाफ़ फ़ैसले सुनाने लगे, सिर्फ़ राजगुरु और भगतसिंह को इन फ़ैसलों से बरी रखा गया। हम जानते थे कि उन्हें फाँसी पर लटकाया जाएगा।

"और राजगुरु और मेरा फ़ैसला? क्या आप लोग हमें बरी कर रहे हैं?" मुस्कुराते हुए भगतसिंह ने पूछा।

किसी ने कोई जवाब नहीं दिया।

"असलियत को स्वीकार करते डर लगता है?" धीमे स्वर में उन्होंने पूछा। चुप्पी छाई रही।

हमारी चुप्पी पर उन्होंने ठहाका लगाया और बोले, "हमें गरदन से फाँसी के फंदे से तब तक लटकाया जाए जब तक कि हम मर न जाएँ। यह है असलियत। मैं इसे जानता हूँ। तुम भी जानते हो। फिर इसकी तरफ़ से आँखें क्यों बंद करते हो?"

अब तक भगतसिंह अपने रंग में आ चुके थे। वे बहुत धीमे स्वर में बोल रहे थे। यही उनका तरीक़ा था। सुनने वालों को लगता था कि वे उन्हें फुसलाने की कोशिश कर रहे हैं। चिल्लाकर बोलना उनकी आदत नहीं थी। यही शायद उनकी शक्ति भी थी।

वे अपने स्वाभाविक अंदाज़ में बोलते रहे, "देशभक्ति के लिए यह सर्वोच्च पुरस्कार है, और मुझे गर्व है कि मैं यह पुरस्कार पाने जा रहा हूँ। वे सोचते हैं कि मेरे पार्थिव शरीर को नष्ट करके वे इस देश में सुरक्षित रह जाएँगे। यह उनकी भूल है। वे मुझे मार सकते हैं, लेकिन मेरे विचारों को नहीं मार सकते। वे मेरे शरीर को कुचल सकते हैं, लेकिन मेरी भावनाओं को नहीं कुचल सकेंगे। ब्रिटिश हुकूमत के सिर पर मेरे विचार उस समय तक एक अभिशाप की तरह मँडराते रहेंगे जब तक वे यहाँ से भागने के लिए मजबूर न हो जाएँ।"

भगतसिंह पूरे आवेश में बोल रहे थे। कुछ समय के लिए हम लोग भूल गए कि जो आदमी हमारे सामने बैठा है वह हमारा सहयोगी है। वे बोलते जा रहे थे : "लेकिन यह तस्वीर का सिर्फ़ एक पहलू है। दूसरा पहलू भी उतना ही उज्ज्वल है। ब्रिटिश हुकूमत के लिए मरा हुआ भगतसिंह जीवित भगतसिंह से ज़्यादा ख़तरनाक होगा। मुझे फाँसी हो जाने के बाद मेरे क्रांतिकारी विचारों की सुगंध हमारे इस मनोहर देश के वातावरण में व्याप्त हो जाएगी। वह नौजवानों को मदहोश करेगी और वे आज़ादी और क्रांति के लिए पागल हो उठेंगे। नौजवानों का यह पागलपन ही ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को विनाश के कगार पर पहुँचा देगा। यह मेरा दृढ़ विश्वास है। मैं बेसब्री के साथ उस दिन का इंतज़ार कर रहा हूँ जब मुझे देश के लिए मेरी सेवाओं और जनता के लिए मेरे प्रेम का सर्वोच्च पुरस्कार मिलेगा।"

भगतसिंह की भविष्यवाणी एक साल के अंदर ही सच साबित हुई। उनका नाम मौत को चुनौती देने वाले साहस, बलिदान, देशभक्ति और संकल्पशीलता का प्रतीक बन गया। समाजवादी समाज की स्थापना का उनका सपना शिक्षित युवकों का सपना बन गया और 'इंक़लाब ज़िंदाबाद' का उनका नारा समूचे राष्ट्र का युद्धनाद हो गया। 1930–32 में जनता एक होकर उठ खड़ी हुई। कारागार, कोड़े और लाठियों के प्रहार उसके मनोबल को तोड़ नहीं सके। यही भावना, इससे भी ऊँचे स्तर पर, 'भारत छोड़ो' आंदोलन के दौरान दिखाई दी थी। भगतसिंह का नाम होंठों पर और उनका नारा अपने झंडों पर लिए हुए किशोरों और बच्चों ने गोलियों का सामना इस तरह किया मानो वे मक्खन की बनी हुई हों। पूरा राष्ट्र पागल हो उठा था। और फिर आया 1945–46 का दौर जब विश्व ने एक सर्वथा नए भारत को करवटें बदलते देखा। मज़दूर, किसान, छात्र, नवयुवक, नौसेना, थलसेना, वायुसेना और पुलिस तक – सब कड़ा प्रहार करने के लिए आतुर थे। निष्क्रिय प्रतिरोध की जगह सक्रिय जवाबी हमले ने ले ली। बलिदान और यातनाओं को सहन करने की जो भावना 1930–31 तक थोड़े से नौजवानों तक सीमित थी, अब समूची जनता में दिखाई दे रही थी। विद्रोह की भावना ने पूरे राष्ट्र को अपनी गिरफ़्त में जकड़ लिया था। भगतसिंह ने ठीक ही तो कहा था, "भावना कभी नहीं मरती।" और उस समय भी वह मरी नहीं थी।

संदर्भ

1. Quoted in the Sedition Committee (Rowlatt) Report 1919, p. 3
2. वही, पृष्ठ 2
3. वही, पृष्ठ 2
4. मन्मथनाथ गुप्त : भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन का इतिहास, दूसरा संस्करण, 1960, पृष्ठ 44
5. तारिणी शंकर चक्रवर्ती : भारत में सशस्त्र क्रांति की भूमिका, क्रांतिकारी प्रकाशन, मिर्ज़ापुर, पृष्ठ 142
6. Budhadeva Bhattacharya (ed.), Freedom Struggle & Anushilan Samiti, p. 48
7. वही, पृष्ठ 68
8. J. C. Car: Political Troubles in India 1907-1917, Preface, 1973, p. XIII
9. Quoted in Sedition Committee Report, p. 7
10. तारिणी शंकर चक्रवर्ती : पृष्ठ 93
11. G. Adhikari: Challenge, PPH, New Delhi, Jan. 1984, p. 3
12. Tridib Chaudhary: Freedom Struggle and Anushilan Samiti, Introduction, p. XVI-XVII
13. अमेरिका के भारतीय क्रांतिकारियों की गतिविधियों के बारे में अधिकतर सामग्री एल.पी. माथुर की पुस्तक Indian Revolutionary Movement in United States of Americ से ली है। यह पुस्तक एस. चाँद एंड क., नई दिल्ली से 1970 में प्रकाशित हुई थी।
14. Paraphrased from Ghadar Weekly, Vol. 1, No. 3 (Dec. 30, 1913) by Sohan Singh Josh, Hindustan Ghadar Party, A Short History, p. 160
15. वही, पृष्ठ 189
16. वही, पृष्ठ 175
17. वही, पृष्ठ 192
18. वही, पृष्ठ 177
19. वही, पृष्ठ 193
20. वही, पृष्ठ 193
21. L.P. Mathur, op. Cit., p. 23
22. वही, पृष्ठ 29
23. Presidential Address to Special (Calcutta) Session of the Indian

National Congress, September 1920. Quoted by R.P. Dutt; India Today, p. 280

24. वही, पृष्ठ 284
25. देखिए परिशिष्ट न. 1
26. शचीन्द्रनाथ सान्याल की पुस्तक *बंदी जीवन* से विश्वमित्र उपाध्याय द्वारा *शचीन्द्रनाथ सान्याल और उनका युग* में उद्धृत, पृष्ठ 195
27. वही, पृष्ठ 156
28. S.N. Mazumdar: In Search of a Revolutionary Theory and a Revolutionary Program. p. 178
29. वही, पृष्ठ 177
30. वही, पृष्ठ 178
31. वही, पृष्ठ 154
32. वही, पृष्ठ 181–2
33. वही, पृष्ठ 183
34. Jawaharlal Nehru: An Autobiography, John Lane, The Bodley Head, London, 1936, p. 164-5
35. Quoted by Pratima Ghosh, Meerut Conspiracy Case & the Left-Wing in India, p. 47
36. वही, पृष्ठ 53
37. यह बिल सदन में बहस के लिए 21 मार्च को पेश किया गया। लेकिन अध्यक्ष ने उसे 2 अप्रैल, 1929 तक के लिए स्थगित कर दिया। 2 अप्रैल को उन्होंने निर्णय दिया कि चूँकि बिल का आधार और मेरठ षड्यंत्र केस में अभियुक्तों के ख़िलाफ़ लगाए गए अभियोग एक जैसे हैं, इस स्थिति में बिल पर जो बहस होगी उससे अभियुक्तों के बचाव पर असर पड़ेगा। इन कारणों से उन्होंने बिल पर बहस की अनुमति नहीं दी। 4 अप्रैल को भारत सरकार ने उसे फिर सदन के सामने पेश किया और बहस की अनुमति माँगी। 11 अप्रैल को अध्यक्ष ने सरकार की अपील ठुकरा दी और अपना निर्णय बरक़रार रखा। 13 अप्रैल को वायसराय ने उसे अध्यादेश के रूप में लागू कर दिया।
38. Quoted by G. Adhikari in an article in Mainstream, April 29, 1981
39. G. Adhikari (ed.): Documents of the History of the Communist Party of India, Vol. II, p. 443
40. वही, पृष्ठ 442
41. वही, पृष्ठ 473

42. S.N. Mazumdar, op. Cit. p. 176
43. G. S. Deol, Sardar Bhagat Singh
44. वही, पृष्ठ 113
45. Bipan Chandra, Introduction to 'Why I am an Atheist?', Sardar Bhagat Singh Research Committee, New Delhi. 1979
46. वही

• • •

क्रांतिकारी आंदोलन का सैद्धांतिक विकास

(चापेकर बंधुओं से भगतसिंह तक)

मुक्तिबोध प्रकाशन

15/-